

## Chapter दो

### असुरराज हिरण्यकशिपु

जैसाकि इस अध्याय में बताया जाएगा, हिरण्याक्ष के विनाश के बाद उसके पुत्र तथा उसका भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक दुखी हुए। हिरण्यकशिपु ने सामान्य लोगों के धार्मिक कार्यकलापों को कम करने के प्रयास में अनेक पाप किये। किन्तु उसने अपने भतीजों को एक इतिहास का उपदेश दिया जिससे उनके शोक कम हो सकें।

जब भगवान् ने शूकर के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला तो हिरण्यकशिपु अत्यन्त दुखी हुआ। क्रोध में आकर उसने भगवान् पर आरोप लगाया कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। उसने अपने भाई को मारने के लिए भगवान् द्वारा वराह रूप धारण करने की हँसी भी उड़ाई। वह सारे असुरों तथा राक्षसों को उत्तेजित करने लगा और शान्त मुनियों तथा पृथ्वी के अन्यवासियों के अनुष्ठानों में विघ्न डालने लगा। यज्ञ न कर पाने से सारे देवता पृथ्वी पर छिपे-छिपे विचरण करने लगे।

अपने भाई का अग्निदाह करने के बाद हिरण्यकशिपु अपने भतीजों से शास्त्रों से उद्धरण दे देकर जीवन की सच्चाई के विषय में बातें करता रहा। वह उन्हें सान्त्वना देने के उद्देश्य से बोला “हे भतीजो! वीरों के लिए शत्रु के समक्ष मरना यशपूर्ण होता है। सारे जीव अपने-अपने सकाम कर्मों के अनुसार इस संसार में साथ-साथ आते हैं और प्रकृति के नियमों द्वारा फिर विलग हो जाते हैं। किन्तु हमें यह सदैव जानना चाहिए कि आत्मा, जो कि शरीर से भिन्न है, शाश्वत्, अविकारी, शुद्ध, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ है। भौतिक शक्ति से बद्ध होने पर आत्मा उच्च या निम्न योनियों में विभिन्न साहचर्यों में जन्म लेता है और इस तरह अनेक प्रकार के शरीर प्राप्त करता है, जिसमें वह सुख तथा दुख भोगता है। इस संसार की दशाओं से पीड़ित होना ही सुख तथा दुख का कारण है; इसके अन्य कारण नहीं होते और मनुष्य को कर्म की ऊपरी क्रियाओं को देखकर शोक-संतप्त नहीं होना चाहिए।”

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपु ने उशीनर नरेश सुयज्ञ से सम्बन्धित एक ऐतिहासिक घटना कह सुनाई। जब राजा का वध हो गया तो उसकी शोक-संतप्त रानियों को जो उपदेश दिया गया था उसे भी हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों को कह सुनाया। उसने कुलिंग पक्षी का वृत्तान्त सुनाया जो अपनी पत्नी के शोक में मग्न होने पर एक व्याध के बाण से विद्ध हो गया। उसी ने उसकी पत्नी को बाण से मार डाला था। इन कथाओं को सुनाकर हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों तथा अन्य सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान की और उन्हें शोक से मुक्त किया। इस तरह शान्त होने पर हिरण्यकशिपु की माता दिति तथा अनुजवधू रुषाभानु ने अपना मन आध्यात्मिक विचारों में लगा दिया।

श्रीनारद उवाच  
भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना ।

हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्गुषा शुचा ॥ १ ॥

**शब्दार्थ**

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; भ्रातरि—जब उसका भाई ( हिरण्याक्ष ); एवम्—इस प्रकार; विनिहते—मार डाला गया; हरिणा—हरि द्वारा; क्रोड-मूर्तिना—वराह के रूप में; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; पर्यतप्यत्—पीड़ित; रुषा—क्रोध से; शुचा—शोक से।

श्री नारद मुनि ने कहा : हे राजा युधिष्ठिर, जब भगवान् विष्णु ने वराह रूप धारण करके हिरण्याक्ष को मार डाला, तो हिरण्याक्ष का भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और विलाप करने लगा।

तात्पर्य : युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा था कि हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद से इतनी ईर्ष्या क्यों करता था? अतएव नारद मुनि ने कथा कहनी प्रारम्भ की जिस तरह हिरण्यकशिपु भगवान् विष्णु का दृढ़ वैरी बन गया था।

आह चेदं रुषा पूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः ।

कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन्धूम्रम्बरम् ॥ २ ॥

**शब्दार्थ**

आह—कहा; च—तथा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध; पूर्णः—भरा हुआ; सन्दष्ट—काट दिया गया; दशन-छदः—जिसके होठ; कोप-उज्ज्वलद्भ्याम्—क्रोध से जलता हुआ; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; निरीक्षन्—देखते हुए; धूम्रम्—धूमिल; अम्बरम्—आकाश को।

क्रोध से भरकर तथा अपने होठ काटते हुए हिरण्यकशिपु ने क्रोध से जलती हुई आँखों से आकाश को देखा तो वह सारा आकाश धूमिल हो गया। इस प्रकार वह बोलने लगा।

तात्पर्य : असुर सदैव की भाँति भगवान् के प्रति ईर्ष्या करते हैं और उनसे शत्रुता रखते हैं। हिरण्यकशिपु ने भगवान् विष्णु को मारने तथा उनके धाम वैकुण्ठलोक को विध्वंस करने का विचार किया तो ये उसके शरीर के उद्वेग थे।

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभुकुटीमुखः ।

शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ**

कराल-दंष्ट्र—भयानक दाँतों से; उग्र-दृष्ट्या—तथा भयानक दृष्टि से; दुष्प्रेक्ष्य—देखने में भयावह; भु-कुटी—रोषपूर्ण भौहों से; मुखः—जिसका मुँह; शूलम्—त्रिशूल को; उद्यम्य—उठाते हुए; सदसि—सभा में; दानवान्—असुरों से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

अपने भयानक दाँत, उग्र दृष्टि तथा रोषपूर्ण भौहों को दिखाते हुए, देखने में भयानक उसने

अपना त्रिशूल धारण किया और अपने एकत्र असुर संगियों से इस प्रकार कहा ।

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धस्त्र्यक्ष शम्बर ।

शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४ ॥

विप्रचित्ते मम वचः पुलोमश्कुनादयः ।

शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

भोः—अरे; भोः—अरे; दानव-दैतेयाः—दानवों तथा दैत्यों; द्वि-मूर्धन्—द्विमूर्ध ( दो सिर वाला ); त्रि-अक्ष—त्र्यक्ष ( तीन नेत्रों वाला ); शम्बर—शम्बर; शत-बाहो—शतबाहु ( सौ भुजाओं वाला ); हयग्रीव—हयग्रीव ( घोड़ेका सिर वाला ); नमुचे—नमुचि; पाक—पाक; इल्वल—इल्वल; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; मम—मेरे; वचः—शब्द; पुलोमन्—पुलोम; शकुन—शकुन; आदयः—इत्यादि; शृणुत—सुनो तो; अनन्तरम्—तत्पश्चात्; सर्वे—सभी; क्रियताम्—किया जाये; आशु—शीघ्र; मा—मत; चिरम्—देर करो ।

अरे दानवो और दैत्यो, अरे द्विमूर्ध, त्र्यक्ष, शम्बर तथा शतबाहु, अरे हयग्रीव, नमुचि, पाक तथा इल्वल, अरे विप्रचित्ति, पुलोमन, शकुन तथा अन्य असुरों, तुम सब जरा मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो और तब अविलम्ब मेरे वचनों के अनुसार कार्य करो ।

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भाता मे दयितः सुहृत् ।

पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

सपत्नैः—शत्रुओं \* द्वारा; घातितः—मारा गया; क्षुद्रैः—शक्ति में नगण्य; भाता—भाई; मे—मेरा; दयितः—अत्यन्त प्रिय; सुहृत्—शुभेच्छु; पार्ष्णि-ग्राहेण—पीछे से आक्रमण करके; हरिणा—भगवान् द्वारा; समेन—समान, ( देवता तथा असुर दोनों ); अपि—यद्यपि; उपधावनैः—पूजकों या देवताओं द्वारा ।

मेरे क्षुद्र शत्रु सारे देवता मेरे परम प्रिय तथा आज्ञाकारी शुभेच्छु भ्राता हिरण्याक्ष को मारने के लिए एक हो गये हैं । यद्यपि परमेश्वर विष्णु हम दोनों के लिए अर्थात् देवताओं तथा असुरों के लिए सदैव समान हैं किन्तु इस बार देवताओं द्वारा अत्यधिक पूजित होने से उन्होंने उनका पक्ष लिया और हिरण्याक्ष को मारने में उनकी सहायता की ।

Footnote starts Here:

\*असुर तथा देवतागण दोनों ही भगवान् को परम स्वामी मानते हैं, किन्तु देवता तो अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हैं जबकि असुर उनको ललकारते हैं । इस तरह देवता तथा असुर एक पति की दो सपत्नियों की भाँति हैं । प्रत्येक पत्नी दूसरी की सपत्नी है, अतएव यहाँ पर सपत्नैः शब्द व्यवहृत है ।

Footnote Ends Here.

**तात्पर्य :** जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा गया है—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—भगवान् समस्त जीवों के प्रति समदर्शी हैं। चूँकि देवता तथा असुर दोनों ही जीव हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि भगवान् एक वर्ग के जीवों का पक्षपात करें और दूसरे के विरुद्ध रहें? वास्तव में भगवान् के लिए पक्षपात कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी चूँकि देवता तथा भक्त भगवान् के आदेशों का कठोरता से सदा पालन करते हैं अतएव अपनी निष्ठा के कारण वे उन असुरों पर विजयी होते हैं, जो यह जानते हैं कि परमेश्वर तो विष्णु हैं किन्तु वे उनके आदेशों का पालन नहीं करते। भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करते रहने के कारण असुरगण सामान्यतया मृत्यु के बाद *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। हिरण्यकशिपु भगवान् पर पक्षपात करने का लांछन लगा रहा था, क्योंकि देवता उनकी पूजा करते थे, लेकिन वस्तुतः सरकार की तरह ही भगवान् तनिक भी पक्षपात नहीं करते। सरकार किसी एक नागरिक का पक्षपात नहीं करती, किन्तु यदि नागरिक नियमों का पालन करने वाला है, तो वह शान्तिपूर्वक रहने तथा अपने असली स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए राज्य से प्रचुर अवसर प्राप्त करता है।

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणोर्मायावनौकसः ।

भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७ ॥

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै ।

असृक्प्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

तस्य—उसका ( भगवान् का ); त्यक्त-स्वभावस्य—अपने स्वभाव ( समदर्शिता ) को जिसने त्याग दिया है; घृणोः—अत्यन्त गर्हित; माया—भ्रामक शक्ति के प्रभाव से; वन-ओकसः—जंगल में पशु के समान आचरण करते हुए; भजन्तम्—भक्ति में लगे भक्त को; भजमानस्य—पूजित होकर; बालस्य—लड़के के; इव—सदृश; अस्थिर-आत्मनः—सदैव अशान्त तथा परिवर्तित होने वाला; मत्—मेरा; शूल—त्रिशूल से; भिन्न—अलग किया गया, छिन्न; ग्रीवस्य—जिसकी गर्दन; भूरिणा—अत्यधिक; रुधिरेण—रक्त से; वै—निस्सन्देह; असृक्-प्रियम्—रक्त का प्यासा; तर्पयिष्ये—प्रसन्न करूँगा; भ्रातरम्—भाई को; मे—अपने; गत-व्यथः—अपने को शान्त बनाकर।

भगवान् ने असुरों तथा देवताओं के प्रति समानता की अपनी सहज प्रवृत्ति त्याग दी है।

यद्यपि वे परम पुरुष हैं, किन्तु अब माया के वशीभूत होकर उन्होंने अपने भक्तों अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वराह का रूप धारण किया है, जिस तरह एक अशान्त बालक किसी

की ओर उन्मुख हो जाये। अतएव मैं अपने त्रिशूल से भगवान् विष्णु के सिर को उनके धड़ से अलग कर दूँगा और उनके शरीर से निकले प्रचुर रक्त से अपने भाई हिरण्यक्ष को प्रसन्न करूँगा जो उनके रक्त को चूसने का शौकीन था। इस प्रकार मैं भी शान्त हो सकूँगा।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में आसुरी मनोवृत्ति के दोष का स्पष्ट वर्णन है। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि विष्णु भी एक चंचल बालक की भाँति पक्षपात करते हैं। हिरण्यकशिपु ने यह सोचा कि भगवान् किसी भी समय अपना मन बदल सकते हैं, अतएव उनके वचन तथा कर्म बच्चों जैसे हैं। वास्तव में असुरगण सामान्य मानव होने के कारण अपना मन बदलते हैं और भौतिकता से बद्ध होने के कारण वे सोचते हैं कि भगवान् भी बद्ध हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं।

असुर सदैव सोचते हैं कि विष्णु को मारा जा सकता है। अतएव उन्हें मारने के विचार में लीन होने के कारण उन्हें विष्णु के प्रतिकूल सोचने का अवसर तो प्राप्त होता है। यद्यपि वे भक्त नहीं होते, लेकिन विष्णु के विषय में सोचना प्रभावशाली होता है और इस तरह वे सामान्यतया *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। चूँकि असुरगण परमेश्वर को सामान्य जीव मानते हैं, अतएव वे सोचते हैं कि वे भगवान् विष्णु का उसी तरह वध कर सकते हैं जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति का वध किया जा सकता है। यहाँ पर एक अन्य तथ्य प्रकट हुआ है कि असुरगण रक्त के प्यासे होते हैं। निस्सन्देह, वे सबके सब मांसभक्षक तथा रक्त चूसने वाले होते हैं।

हिरण्यकशिपु ने भगवान् पर आरोप लगाया कि उनका मन एक छोटे बालक की तरह चंचल है, जिसे कुछ बर्फी तथा लड्डू देकर जो चाहो सो कराया जा सकता है। अप्रत्यक्षतः इससे भगवान् की वास्तविक स्थिति सूचित होती है, जो *भगवद्गीता* (९.२३) में कहते हैं कि

*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।*

*तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥*

“यदि कोई प्रेम तथा भक्ति से मुझे एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।” भगवान् भक्तों के दिव्य प्रेम के कारण उनकी भेंटें स्वीकार करते हैं। चूँकि भक्तगण परमेश्वर से प्रेम करते हैं अतएव वे भगवान् को पहले अर्पित किये बिना अपना भोजन नहीं

करते। भगवान् एक क्षुद्र पत्र या पुष्प के लिए लालायित नहीं रहते। उनके पास खाने के लिए बहुत है। वे ही सारे जीवों को भोजन देने वाले हैं। फिर भी चूँकि वे अत्यन्त कृपालु तथा भक्तवत्सल हैं अर्थात् भक्तों के अनुकूल हैं, अतएव उन्हें प्रेम तथा भक्तिपूर्वक जो भी अर्पित किया जाता है उसे वे अवश्य खाते हैं। इस गुण को बालपना नहीं समझना चाहिए। भगवान् का सर्वोच्च गुण है उनकी भक्तवत्सलता। दूसरे शब्दों में, वे अपने भक्तों से सदैव अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं। जहाँ तक माया शब्द के प्रयोग की बात है, जब यह भगवान् तथा उनके भक्तों के व्यवहारों में प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है “स्नेह”। अपने भक्तों के पक्ष में किये गये कर्म अवगुण नहीं हैं, अपितु भगवान् के सहज स्नेह के लक्षण हैं।

जहाँ तक भगवान् विष्णु के रुधिर का प्रश्न है, चूँकि भगवान् विष्णु के सिर को उनके शरीर से छिन्न नहीं किया जा सकता अतएव रक्त की बात ही नहीं उठती। किन्तु विष्णु के शरीर को अलंकृत करने वाली माला रक्त के ही समान लाल होती है। जब असुरों को सायुज्य मुक्ति मिलती है और वे अपने पापमय कर्मों को पीछे छोड़ जाते हैं, तो उन्हें रक्त के समान विष्णु की लाल माला ही आशीर्वाद (वर) देती है। सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने के बाद कभी-कभी असुरों को वैकुण्ठ लोक प्राप्त होता है जहाँ उन्हें भगवान् की माला का प्रसाद पुरस्कार रूप में मिलता है।

तस्मिन्कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ ।

विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवोकसः ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह; कूटे—अत्यन्त मायावी; अहिते—शत्रु; नष्टे—नष्ट हो जाता है; कृत्त-मूले—जड़ें कट जाने पर; वनस्प-पतौ—वृक्ष; विटपा:—डालें तथा पत्तियाँ; इव—सदृश; शुष्यन्ति—सूख जाती हैं; विष्णु-प्राणा:—जिनका प्राण विष्णु है; दिव-ओकसः—देवतागण।

जब वृक्ष की जड़ काट दी जाती है, तो वह गिर पड़ता है और उसकी शाखायें एवं पत्तियाँ स्वयमेव सूख जाती हैं। उसी तरह जब मैं इस मायावी विष्णु को मार डालूँगा तो सारे देवता, जिनके लिए भगवान् विष्णु प्राण तथा आत्मा हैं, अपना जीवन-स्रोत खो देंगे और मुरझा जाएँगे।

तात्पर्य : यहाँ पर देवताओं तथा असुरों का अन्तर बताया गया है। देवता सदैव भगवान् के आदेशों का पालन करते हैं जबकि असुरगण उन्हें क्षुब्ध करने या मारने की योजना बनाते हैं। फिर भी कभी-कभी असुरगण देवताओं की भगवत्कृपा पर पूर्ण निर्भरता की प्रशंसा करते हैं। यह असुरोंद्वारा देवताओं

का अप्रत्यक्ष महिमा-गायन है।

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्रसमेधिताम् ।

सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

तावत्—जब तक ( मैं विष्णु के मारने में व्यस्त हूँ ); यात—जाओ; भुवम्—पृथ्वी लोक में; यूयम्—तुम सब; ब्रह्म-क्षत्र—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; समेधिताम्—कर्मों ( ब्राह्मण संस्कृति तथा वैदिक शासन ) द्वारा सम्पन्न बने हुए; सूदयध्वम्—विनष्ट कर दो; तपः—तपस्या करने वालों को; यज्ञ—यज्ञ; स्वाध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; व्रत—अनुष्ठान सम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ; दानिनः—तथा दान देने वालों का।

जब तक मैं भगवान् विष्णु के मारने के कार्य में लगा हूँ, तब तक तुम लोग पृथ्वी लोक में जाओ जो ब्राह्मण संस्कृति तथा क्षत्रिय शासन के कारण फल-फूल रहा है। ये लोग तपस्या, यज्ञ, वैदिक अध्ययन, आनुष्ठानिक व्रत तथा दान में लगे रहते हैं। ऐसे सारे लोगों को जाकर विनष्ट कर दो।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का मुख्य उद्देश्य देवताओं को विचलित करना था। उसने सर्वप्रथम भगवान् विष्णु को मार डालने की योजना बनाई जिससे विष्णु की मृत्यु होने पर सारे देवता स्वतः निर्बल होकर मर जाएंगे। उसकी दूसरी योजना पृथ्वी के वासियों को सताने की थी। पृथ्वीवासियों तथा अन्य लोकों की शान्ति तथा समृद्धि ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा स्थिर रखी जाती थी। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कहते हैं—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—प्रकृति के तीन गुणों तथा उनके नियत कर्म के अनुसार मानव समाज के चार वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा की गई है। सभी लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वासी रहते हैं, लेकिन यहाँ पर मनुष्यों द्वारा निवसित पृथ्वी लोक के प्रसंग में वे संस्तुत करते हैं कि समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित किया जाए। इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण के अवतार के पूर्व ऐसा जाना जाता है कि यह पृथ्वी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा व्यवस्थित होती थी। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह *शमः* (शान्ति), *दमः* (आत्मसंयम), *तितिक्षा* (सहिष्णुता), *सत्यम्* (सच्चाई), *शौचम्* (स्वच्छता) तथा *आर्जवम्* (सरलता) का संवर्धन करे और तब क्षत्रिय राजाओं को सलाह दे कि देश या लोक पर किस तरह शासन किया जाये। ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते हुए क्षत्रियों को चाहिए कि वे जनता को तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय तथा वैदिक अनुष्ठानों में दृढ़ बनने के लिए प्रवृत्त करें। उन्हें ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा मन्दिरों को दान देने की भी

व्यवस्था करनी चाहिए। ब्राह्मण संस्कृति का यह दैवी विधान है।

लोगों की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पन्न करने की ओर इसलिए होती है, क्योंकि यदि यज्ञ नहीं किये जाएं तो अपर्याप्त वर्षा होगी ( *यज्ञाद् भवति पर्जन्यः* ) जिससे कृषिकर्म में बाधा उपस्थित होगी ( *पर्जन्याद् अन्नसम्भवः* ) अतएव ब्राह्मण संस्कृति का सूत्रपात करके क्षत्रिय सरकार को चाहिए कि लोगों को यज्ञ करने, वेदों को पढ़ने तथा दान देने के प्रति प्रवृत्त करें। इस प्रकार लोगों की आवश्यकताएँ सरलता से पूर्ण हो सकेंगी और समाज में उपद्रव नहीं होगा। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (३.१२) में कहते हैं—

*इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।*

*तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥*

“सारे देवता जीवन की विविध आवश्यकताओं का भार सँभालने के कारण यज्ञ सम्पन्न होने पर तुष्ट होकर मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये बिना भोग करता है, वह निश्चय ही चोर है।”

देवतागण वैध इच्छापूर्ति अभिकर्ता हैं, जो विष्णु के प्रतिनिधि रूप में कार्य करते हैं, अतएव नियत यज्ञ सम्पन्न करके उन्हें प्रसन्न किया जाना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न यज्ञ बताये गये हैं, किन्तु वे सारे यज्ञ अन्ततः भगवान् को ही समर्पित होते हैं। जो भगवान् को नहीं समझ सकता उसके लिए संस्तुति की जाती है कि वह देवताओं के लिए यज्ञ करे। वेदों में सम्बद्ध व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न यज्ञों की संस्तुति की गई है। विभिन्न देवताओं की पूजा का आधार भी गुणों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को प्रकृति की बीभत्स स्वरूपा देवी काली की पूजा की संस्तुति की जाती है। इस देवी के समक्ष पशुओं की बलि दी जाती है। किन्तु सतोगुणियों के लिए विष्णु-पूजा की संस्तुत की जाती है। अन्ततः सारे यज्ञ क्रमशः दिव्य पद तक उठने के निमित्त किये जाते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं जिन्हें *पञ्चमहायज्ञ* कहा जाता है।

किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि मानव समाज की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के अभिकर्ता देवताओं द्वारा पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मानव समाज के

समस्त खाद्य पदार्थों के विषय में विचार करें। इनमें अन्न, फल, तरकारियाँ, दूध तथा चीनी सम्मिलित हैं, जो शाकाहारियों के लिए हैं। इनमें मांसाहारियों के लिए भी खाद्य पदार्थ होते हैं, यथा मांस, किन्तु इनमें से किसी का भी निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हो सकता। पुनः दूसरा उदाहरण उष्मा, प्रकाश, जल तथा वायु का लें जो जीवन के लिए आवश्यक हैं और इनमें से किसी का भी निर्माण मानव समाज द्वारा नहीं हो सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर सूर्यप्रकाश हो सकता है, न चाँदनी, न वर्षा, न मन्द समीर जिनके अभाव में कोई जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारे जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि अपने निर्माणकार्यों के लिए भी हमें अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है—यथा धातुएँ, गन्धक, पारा, मैंगनीज इत्यादि और ये सब भगवान् के अभिकर्ताओं द्वारा इस उद्देश्य से प्रदान की जाती हैं कि हम इनका उचित उपयोग करके अपने को स्वस्थ रखकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकें जो हमारे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् संसार में जीवन-संघर्ष से मोक्ष है। यह जीवन-लक्ष्य यज्ञों को सम्पन्न करके प्राप्त किया जाता है। यदि हम मनुष्य जीवन के प्रयोजन को भूल जाते हैं और मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् के अभिकर्ताओं से आपूर्ति ग्रहण करते जाते हैं और संसार में अधिकाधिक फँसते जाते हैं, जो सृष्टि का उद्देश्य नहीं है, तो निश्चय ही हम चोर बन जाते हैं और हमें प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता, क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। निपट भौतिकतावादी चोरों का कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रेरित होते हैं, उन्हें यज्ञों को सम्पन्न करने का कोई ज्ञान भी नहीं होता। किन्तु भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की सरलतम विधि का सूत्रपात किया, जो *सङ्कीर्तन यज्ञ* है और जिसे विश्व का कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, सम्पन्न कर सकता है।

हिरण्यकशिपु ने पृथ्वी के निवासियों को मार डालने की योजना बनाई थी जिससे यज्ञ बन्द हो जाँय और सारे देवता विचलित हो कर स्वतः मर जाएं। जब परमेश्वर भगवान् विष्णु का स्वतः वध हो जाएगा। ये हिरण्यकशिपु की आसुरी योजनाएँ थीं और वह ऐसे कार्यों में दक्ष था।

**विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान् ।**

देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

विष्णुः— भगवान् विष्णु; द्विज— ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; क्रिया-मूलः— जिसका मूल है यज्ञों एवं वेदों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना; यज्ञः— साक्षात् यज्ञ ( भगवान् विष्णु जो यज्ञ पुरुष कहलाते हैं ); धर्म-मयः— धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्ण; पुमान्— परम पुरुष; देव-ऋषि— देवताओं तथा व्यासदेव एवं नारद जैसे महान् ऋषियों का; पितृ— पूर्वजों का; भूतानाम्— तथा समस्त जीवों का; धर्मस्य— धार्मिक सिद्धान्तों का; च— भी; परायणम्— आश्रय ।

ब्राह्मण-संस्कृति का मूल सिद्धान्त यज्ञों तथा अनुष्ठानों के साक्षात् स्वरूप भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् आगार हैं और वे समस्त देवताओं, महान् पितरों तथा सामान्य जनता के आश्रय हैं। यदि ब्राह्मणों का वध कर दिया जाये तो क्षत्रियों को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करने वाला कोई नहीं रहेगा और इस तरह सारे देवता यज्ञों द्वारा प्रसन्न न किये जाने पर स्वतः मर जायेंगे।

तात्पर्य : चूँकि विष्णु ही ब्राह्मण-संस्कृति के केन्द्रबिन्दु हैं, अतएव हिरण्यकशिपु की योजना विष्णु-वध करने की थी क्योंकि यदि विष्णु का वध कर दिया जाता है, तो ब्राह्मण-संस्कृति भी विनष्ट हो जाएगी। ब्राह्मण-संस्कृति के विनाश होने पर यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकेंगे और यज्ञ के अभाव में नियमित वर्षा होनी बन्द हो जाएगी ( यज्ञात् भवति पर्जन्यः )। इस तरह सारे विश्व में उत्पात होंगे जिससे देवता पराजित हो जाएँगे। इस श्लोक से हमें स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक सभ्यता के नष्ट होने से मानव समाज किस तरह विश्रुंखलित हो जाता है और ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न होने वाले वैदिक कर्मकाण्ड बन्द हो जाते हैं। कलौ शूद्रसम्भवः। चूँकि आधुनिक जगत की जनसंख्या अधिकांशतः शूद्र है, अतएव ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और इसे उचित मार्ग पर ले आना अत्यधिक कठिन है। अतएव भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की संस्तुति की है, जिससे खोई हुई ब्राह्मण-संस्कृति सरलता से पुनरुज्जीवित हो सकेगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

आसुरी जनसंख्या में वृद्धि के कारण ब्राह्मण-संस्कृति तो विनष्ट हो ही चुकी है। कोई क्षत्रिय-सरकार भी नहीं है। उल्टे, आजकल की सरकार प्रजातांत्रिक है, जिसमें कोई भी शूद्र मतदान द्वारा सरकारी बागडोर अपने हाथ में लेकर शासन सँभाल सकता है। कलियुग के विषाक्त प्रभाव के कारण शास्त्र (भागवत १२.२.१३) का कथन है— दस्युप्रायेषु राजसु—सरकार दस्युओं अर्थात् लुटेरों की

नीतियाँ धारण करेगी। इस प्रकार ब्राह्मणों से कोई आदेश नहीं मिलेंगे और यदि मिलें भी तो कोई क्षत्रिय शासक नहीं होगा जो उनका पालन कर सके। सत्ययुग को छोड़कर पहले भी जब असुरों का प्रभाव था तो हिरण्यकशिपु ने ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार को विनष्ट करने की योजना बनाई थी जिस से सारे संसार में अराजकता फैल जाये। यद्यपि सत्ययुग में इस योजना को कार्यान्वित कर पाना दुष्कर था, लेकिन शूद्रों तथा असुरों से पूर्ण इस कलियुग में ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और केवल महामंत्र के कीर्तन से ही पुनरुज्जीवित हो सकती है। इसीलिए कृष्णभावानामृत आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात ब्राह्मण संस्कृति को सरलता से पुनरुज्जीवित करने के लिए किया गया है, जिससे लोग इसी जीवन में सुखी तथा शान्तिमय रह सकें और अगले जन्म में ऊपर उठने की तैयारी कर सकें। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह श्लोक उद्धृत किया है—

*विप्रयज्ञादिमूलं तु हरिरित्यासुरं मतम् ।*

*हरिरेव हि सर्वस्य मूलं सम्यङ्मतो नृप ॥*

“हे राजन्! असुरगण सोचते हैं कि हरि या भगवान् विष्णु का अस्तित्व ब्राह्मणों तथा यज्ञों के कारण है, लेकिन तथ्य तो यह है कि हरि ब्राह्मणों तथा यज्ञों सहित प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।” अतएव *हरि कीर्तन* या *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के प्रचार द्वारा ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार स्वतः वापस आ जाएगी और लोग अत्यन्त सुखी होंगे।

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमक्रियाः ।

तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; द्विजाः—ब्राह्मण गण; गावः—सुरक्षित गाएँ; वेदाः—वैदिक संस्कृति; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली आर्यसभ्यता के; क्रियाः—कार्यकलाप; तम् तम्—उनको; जन-पदम्—नगर या शहर में; यात—जाओ; सन्दीपयत—अग्नि लगा दो; वृश्चत—( सारे वृक्षों को ) काट डालो।

जहाँ कहीं भी गौवों तथा ब्राह्मणों को सुरक्षा प्राप्त है तथा जहाँ-जहाँ वर्णाश्रम नियमों के अनुसार वेदों का अध्ययन होता है, वहाँ-वहाँ तुरन्त जाओ। तुम लोग उन स्थानों में अग्नि लगा दो और जीवन के स्रोत वृक्षों को जड़ से काट कर गिरा दो।

**तात्पर्य :** यहाँ पर असली मानव सभ्यता के चित्र का अप्रत्यक्ष वर्णन हुआ है। पूर्ण मानव सभ्यता में भलीभाँति प्रशिक्षित पुरुषों का वर्ग पूर्ण ब्राह्मण के रूप में होना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्रों के

आदेशानुसार सुचारु रूप से देश का शासन चलाने के लिए क्षत्रिय होने चाहिए और होने चाहिए वैश्य जो गायों की रक्षा कर सकें। गावः शब्द सूचित करता है कि गायों को सुरक्षा प्रदान की जाये। चूँकि वैदिक सभ्यता समाप्त हो गई है, अतएव गाएँ सुरक्षित नहीं हैं, अपितु कसाईघरों में वे अन्धाधुन्ध काटी जा रही हैं। ऐसे कार्य असुरों के हैं, अतएव यह आसुरी सभ्यता है। यहाँ पर वर्णित वर्णाश्रम कर्म मानव सभ्यता के लिए अनिवार्य है। जब तक मार्गदर्शन के लिए ब्राह्मण न हों, ठीक से शासन करने के लिए क्षत्रिय न हों तथा अन्न उत्पन्न करने एवं गायों की रक्षा के लिए पूर्ण वैश्य न हों तब तक लोग शान्तिपूर्वक कैसे रह सकते हैं? यह असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि वृक्षों को भी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। वृक्ष को उसके जीवन-काल में किसी औद्योगिक कार्य के लिए नहीं काटा जाना चाहिए। कलियुग में वृक्षों को उद्योग के लिए, विशेष रूप से कागज मिलों के लिए, आँख मूँद कर व्यर्थ ही काटा जाता है और ये मिलें वृहद मात्रा में कागज तैयार करती हैं जिससे आसुरी विज्ञापन, व्यर्थ साहित्य, अनेक समाचारपत्रों का प्रकाशन होता है तथा अन्य कागजी उत्पाद बनते हैं। यह आसुरी सभ्यता का चिह्न है। जब तक भगवान् विष्णु की सेवा के लिए आवश्यकता न पड़े, वृक्ष न काटे जाँय। यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः— भगवान् विष्णु के लिये यज्ञ रूप कर्म किया जाये, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत से बाँधने वाला है। लेकिन यदि कागज की मिलें कागज का उत्पादन बन्द कर दें तो यह पूछा जा सकता है कि हमारा इस्कान-साहित्य किस तरह छपेगा? इसका उत्तर यह है कि कागज मिलों को चाहिये कि इस्कान-साहित्य के प्रकाशनार्थ ही कागज का उत्पादन करें, क्योंकि यह साहित्य भगवान् विष्णु की सेवा करने के लिये प्रकाशित किया जाता है। यह साहित्य भगवान् विष्णु के साथ हमारे सम्बन्ध को स्पष्ट करता है, अतएव इस्कान-साहित्य का प्रकाशन यज्ञ-सम्पादन है। यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। यज्ञ तो श्रेष्ठ अधिकारियों द्वारा बताई गई विधि से सम्पन्न किया जाये। अवांछित साहित्य के प्रकाशन हेतु कागज-निर्माण के लिये ही वृक्षों को काटना सबसे बड़ा पापकर्म है।

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाहताः ।

तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—वे; भर्तृ—स्वामी की; निर्देशम्—आज्ञा; आदाय—प्राप्त कर; शिरसा—सिर के बल; आहताः—आदर करते हुए; तथा—और; प्रजानाम्—सारे नागरिकों का; कदनम्—दण्ड; विदधुः—दिया; कदन-प्रियाः—अन्यों को दण्ड देने में पटु।

इस तरह जघन्य कर्मों के इच्छुक असुरों ने हिरण्यकशिपु की आज्ञा को अत्यन्त आदरपूर्वक लिया और उसे नमस्कार किया। उसके निर्देशानुसार वे सारे जीवों के विरुद्ध ईर्ष्यापूर्ण कार्यकलाप में जुट गये।

**तात्पर्य :** जैसाकि यहाँ पर बताया गया है आसुरी सिद्धान्तों के अनुयायी सामान्य जनों के प्रति नितान्त ईर्ष्या से भरे रहते हैं। आजकल की वैज्ञानिक प्रगति इस ईर्ष्या का जीता-जागता उदाहरण है। नाभिकीय ऊर्जा की खोज जनता के लिए विपत्तिजनक रही है, क्योंकि संसार भर में असुरगण नाभिकीय हथियार बना रहे हैं। इस प्रसंग में *कदनप्रियाः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। असुरगण जो वैदिक संस्कृति को विनष्ट कर देना चाहते हैं, वे निर्बल नागरिकों से अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं और ऐसा कार्य करते हैं कि उनकी खोजें अन्ततोगत्वा हर एक के लिए अकल्याणकर सिद्ध हों (*जगतोऽहिताः*)। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में यह भलीभाँति बताया गया है कि असुरगण सामान्यजनों के विनाश हेतु किस प्रकार पापकर्मों में रत रहते हैं।

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।

खेटखर्वटघोषांश्च ददद्दुः पत्तनानि च ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

पुर—नगर तथा कस्बे; ग्राम—गाँव; व्रज—चारागाहें; उद्यान—बगीचे; क्षेत्र—खेत; आराम—प्राकृतिक जंगल; आश्रम—सन्त जनों की कुटिया; आकरान्—खानें (जिनसे ब्राह्मण-संस्कृति को बनाये रखने के लिए मूल्यवान धातुएं निकलती हैं); खेट—गाँव; खर्वट—पहाड़ी गाँव; घोषान्—ग्वालों के छोटे-छोटे गाँव; च—तथा; ददद्दुः—जला दिया; पत्तनानि—राजधानियों को; च—भी।

असुरों ने नगरों, गावों, चारागाहों, उद्यानों, खेतों तथा जंगलों में आग लगा दी। उन्होंने साधु पुरुषों के घरों, मूल्यवान धातु उत्पन्न करने वाली महत्त्वपूर्ण खानों, कृषकों के आवासों, पर्वतीय ग्रामों, अहीरों की बस्तियों को जला दिया। उन्होंने सरकारी राजधानियाँ भी जला दीं।

**तात्पर्य :** उद्यान उन स्थानों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जहाँ फल तथा फूल उत्पन्न करने के लिए वृक्ष उगाये जाते हैं, जो मानव सभ्यता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

“यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।” फल तथा फूल भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है, तो वह केवल फल तथा फूल अर्पित कर सकता है और भगवान् उन्हें ग्रहण करके प्रसन्न हो जाते हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है भगवान् को प्रसन्न करना ( संसिद्धिर्हरितोषणम् )। हम जो कुछ भी करें, हमारा व्यवसाय चाहे कुछ भी हो, हमारा मुख्य लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना या तुष्ट करना होना चाहिये। इस श्लोक में वर्णित सारी सामग्री विशेष रूप से भगवान् की तुष्टि के निमित्त है, अन्य किसी की इन्द्रिय-तृप्ति के लिये नहीं। सरकार का ही नहीं, अपितु सारे समाज का गठन ऐसा होना चाहिए कि हर एक को भगवान् को संतुष्ट करने की शिक्षा दी जा सके। किन्तु दुर्भाग्यवश इस युग में न ते विदुः स्वार्थगातिं हि विष्णुम्—लोग यह नहीं जानते कि मनुष्य-जीवन सर्वोच्च का लक्ष्य भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। इसके विपरीत, वे असुरों की तरह विष्णु को मार कर इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुखी बनना चाहते हैं।

केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् ।  
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान्केचित्परशुपाणयः ।  
प्रादहञ्शरणान्येके प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

केचित्—कुछ असुर; खनित्रैः—फावड़ों से; बिभिदुः—खण्ड-खण्ड कर दिया; सेतु—पुल; प्राकार—रक्षा करने वाली दीवारें, परकोटे; गोपुरान्—नगर के द्वारों को; आजीव्यान्—जीविका के साधन; चिच्छिदुः—काट डाला; वृक्षान्—वृक्षों को; केचित्—कुछ ने; परशु-पाणयः—हाथ में कुल्हाड़ी लेकर; प्रादहन्—जला डाला; शरणानि—आवास; एके—अन्य असुरों ने; प्रजानाम्—नागरिकों के; ज्वलित—जलते हुए; उल्मुकैः—लुकाठों से।

कुछ असुरों ने फावड़े लेकर पुल, परकोटे तथा नगरों के द्वारों ( गोपुरों ) को तोड़ डाला। कुछ ने कुल्हाड़े लेकर आम, कटहल के महत्त्वपूर्ण वृक्षों तथा अन्य भोज्य सामग्री वाले वृक्षों को काट डाला। कुछ असुरों ने हाथ में जलते लुकाठे लेकर नागरिकों के रिहायशी मकानों में आग लगा दी।

तात्पर्य : सामान्यतया वृक्षों का काटना वर्जित है, विशेष रूप से जो वृक्ष मानव-समाज के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करते हैं उन्हें तो नहीं ही काटना चाहिये। विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न

प्रकार के फल वृक्ष होते हैं। भारत में आम तथा कटहल के वृक्ष प्रमुख हैं और अन्य स्थानों में आम, कटहल, नारियल तथा बेर के वृक्ष पाये जाते हैं। ऐसा कोई भी वृक्ष जो मनुष्य के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करता हो उसे बिल्कुल ही नहीं काटना चाहिये। यह शास्त्रों का आदेश है।

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः ।

दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विप्रकृते—सताये जाकर; लोके—जब सारे लोग; दैत्य-इन्द्र-अनुचरैः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा; मुहुः—पुनः पुनः; दिवम्—स्वर्ग लोक को; देवाः—देवतागण; परित्यज्य—त्याग कर; भुवि—पृथ्वी लोक पर; चेरुः—घूमने लगे ( उपद्रव का विस्तार देखने के लिये ); अलक्षिताः—असुरों से छिप कर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा बारम्बार अप्राकृतिक घटनाओं के रूप में सताये जाने पर सभी लोगों ने बाध्य होकर वैदिक संस्कृति की सारी गतिविधियाँ बन्द कर दीं। देवतागण भी यज्ञों का फल न पाने के कारण विचलित हो उठे। उन्होंने स्वर्गलोक के अपने-अपने आवास त्याग दिये और असुरों से अलक्षित होकर विनाश का अवलोकन करने के लिए वे पृथ्वीलोक में इधर-उधर विचरण करने लगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्यों तथा देवताओं को अन्योन्याश्रित सौभाग्य प्राप्त होता है। जब असुरों के उत्पातों से यज्ञ होने बन्द हो गये तो देवतागण सहज ही यज्ञ के फलों से वंचित रह गये और उन्हें अपने-अपने कर्तव्य करने में बाधा पड़ने लगी। अतएव वे पृथ्वी लोक पर यह देखने के लिए कि लोग किस प्रकार विचलित हुए और यह विचार करने के लिए कि क्या करना चाहिये, उतर आये।

हिरण्यकशिपुर्भातुः सम्प्रेतस्य दुःखितः ।

कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; भ्रातुः—भाई का; सम्प्रेतस्य—मृत; दुःखितः—अत्यन्त दुखी; कृत्वा—करके; कटोदक-आदीनि—मृत्यु के पश्चात् के कृत्य, अन्त्येष्टि क्रिया; भ्रातृ-पुत्रान्—अपने भाई के लड़कों को; असान्त्वयत्—सान्त्वना दी।

अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर लेने के बाद हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त दुःखित होकर अपने भतीजों को सान्त्वना प्रदान करने का प्रयास किया।

शकुनिं शम्बरं धृष्टिं भूतसन्तापनं वृकम् ।  
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥ १८ ॥  
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा ।  
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

शकुनिम्—शकुनि को; शम्बरम्—शम्बर को; धृष्टिम्—धृष्टि को; भूतसन्तापनम्—भूतसन्तापन को; वृकम्—वृक को; कालनाभम्—कालनाभ को; महानाभम्—महानाभ को; हरिश्मश्रुम्—हरिश्मश्रु को; अथ—तथा; उत्कचम्—उत्कच को; तत्-मातरम्—उनकी माता; रुषाभानुम्—रुषाभानु को; दितिम्—दिति को; च—तथा; जननीम्—अपनी माता; गिरा—शब्दों से; श्लक्ष्णया—अत्यन्त मधुर; देश-काल-ज्ञः—जो काल तथा परिस्थिति को समझने में दक्ष हो; इदम्—यह; आह—कहा; जन-ईश्वर—हे राजा!

हे राजा, हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था, किन्तु महान् राजनीतिज्ञ होने के कारण वह देश तथा काल के अनुसार कर्म करना जानता था। अतएव वह अपने भतीजों को मधुर वाणी से सान्त्वना देने लगा। इनके नाम थे शकुनि, शम्बर, धृष्टि, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु तथा उत्कच। उसने उनकी माता अर्थात् अपनी अनुजवधू रुषाभानु एवं अपनी माता दिति को भी ढाढस बँधाया। वह उनसे इस प्रकार बोला।

### श्रीहिरण्यकशिपुवाच

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं माहंथ शोचितुम् ।  
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—हिरण्यकशिपु ने कहा; अम्ब अम्ब—मेरी माता, मेरी माता; हे—हे, ओ; वधूः—मेरी बहू; पुत्राः—मेरे भाई के पुत्रों; वीरम्—वीर; मा—मत; अहंथ—तुम्हें चाहिये; शोचितुम्—शोक करना; रिपोः—शत्रु के; अभिमुखे—समक्ष; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; शूराणाम्—वास्तविक महान् पुरुषों का; वधः—वध; ईप्सितः—वांछित।

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे माता, हे वधू तथा हे भतीजो, तुम लोगों को महान् वीर की मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने शत्रु के समक्ष वीर की मृत्यु अत्यन्त प्रशंसनीय तथा वांछनीय होती है।

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ।  
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; इह—इस संसार में; संवासः—साथ-साथ रहना; प्रपायाम्—ठंडा जल पीने के स्थान, प्याऊ; इव—सदृश; सु-व्रते—हे भद्रे; दैवेन—भाग्य द्वारा; एकत्र—एक स्थान पर; नीतानाम्—लाये गये; उन्नीतानाम्—दूर-दूर ले जाने वालों का; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से।

हे माता, किसी भोजनालय या प्याऊ में अनेक राहगीर पास-पास आते हैं, किन्तु जल पीने

के बाद अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी किसी परिवार में आकर मिलते हैं किन्तु बाद में अपने-अपने कर्मों के अनुसार वे अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं।

तात्पर्य :

*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।*

*अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

“मोहग्रस्त जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभावों में आकर अपने को उन कर्मों का कर्ता सोचने लगता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।”(भगवद्गीता ३.२७) सारे जीव प्रकृति के आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में हम पूरी तरह उच्चतर नियंत्रण में रहते हैं। सारे जीव इस जगत में इसलिए आये, क्योंकि वे कृष्ण के समान भोग करना चाहते हैं और इस तरह वे प्रकृति द्वारा विभिन्न मात्राओं में बद्ध होने के लिए भेजे गये हैं। भौतिक जगत में तथाकथित परिवार एक घर में ऐसे अनेक व्यक्तियों का सम्मिलन है जिन्हें अपना बन्दी जीवन बिताना होता है। जिस तरह जेल में बंद अपराधी अपनी अवधि पूरी होने पर छोड़े जाने पर ही तितर-बितर हो जाते हैं उसी प्रकार हम परिवार के सदस्य, जो अस्थायी रूप से एकत्र हुए हैं, अपने-अपने गन्तव्यों की यात्रा करते रहेंगे। एक अन्य दृष्टान्त दिया जाता है कि, पारिवारिक सदस्य उन तिनकों के समान हैं, जो नदी की लहरों में साथ-साथ बहते रहते हैं। ये तिनके कभी कभी भँवर में पास-पास आ जाते हैं और पुनः उन्हीं लहरों द्वारा विलग किये जाकर अकेले जल में तैरने लगते हैं।

हिरण्यकशिपु दैत्य था, किन्तु उसे भौतिक ज्ञान और समझ थी। फलस्वरूप उसने अपने पारिवारिक जनों को—अपनी अनुजवधू, अपनी माता तथा भतीजों—को जो सलाह दी वह बहुत अच्छी थी। यद्यपि दैत्यों को ज्ञान में अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा माना जाता है, लेकिन वे भगवान् की सेवा में अपनी सद्बुद्धि का प्रयोग न करने के कारण ही दैत्य या असुर कहलाते हैं। किन्तु देवतागण बड़ी ही बुद्धिमानी से भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए कर्म करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में इस प्रकार हुई है—

*अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।*

*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥*

“अतः द्विजश्रेष्ठ! यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य वर्ण तथा आश्रम के विभाग के अनुसार अपने नियत कर्तव्य ( धर्म ) करता हुआ जिस सर्वोच्च सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, वह है भगवान् हरि को प्रसन्न करना।” देवता या देवतुल्य बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को प्रसन्न करे, चाहे उसकी वृत्ति कुछ भी हो।

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः ।

धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥ २२ ॥

### शब्दार्थ

नित्यः—शाश्वत; आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; शुद्धः—भौतिक कल्मष से रहित; सर्व-गः—भौतिक या आध्यात्मिक जगत् में कहीं भी जाने के योग्य; सर्व-वित्—ज्ञान से पूर्ण; परः—भौतिक दशाओं से परे; धत्ते—स्वीकार करता है; असौ—वह आत्मा या जीव; आत्मनः—अपना; लिङ्गम्—शरीर; मायया—भौतिक शक्ति के द्वारा; विसृजन्—उत्पन्न करते हुए; गुणान्—विविध भौतिक गुणों को।

आत्मा या जीव की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वह नित्य तथा अव्यय है। भौतिक कल्मष से मुक्त होने के कारण वह भौतिक या आध्यात्मिक जगत् में कहीं भी जा सकता है। वह भौतिक शरीर से पूरी तरह अवगत होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है, किन्तु अपनी किंचित स्वतंत्रता के दुरुपयोग के कारण उसे भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर धारण करने होते हैं और इस तरह उसे तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख सहने होते हैं। अतएव किसी भी मनुष्य को शरीर में से आत्मा के निकलने पर शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त बुद्धिमानी से आत्मा की स्थिति का वर्णन किया है। आत्मा कभी भी शरीर नहीं होता, अपितु वह सदैव शरीर से पूर्णतया भिन्न होता है। नित्य तथा अव्यय होने के कारण आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु जब वही शुद्ध आत्मा मुक्तभाव से भौतिक जगत् का भोग करना चाहता है, तो उसे प्रकृति के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत रख दिया जाता है, जिसके कारण उसे किसी न किसी प्रकार शरीर धारण करना पड़ता है और उसके सुखों एवं दुखों को भोगना होता है। इसका वर्णन कृष्ण द्वारा भगवद्गीता (१३.२२) में भी हुआ है। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्-योनिजन्मसु—जीव विभिन्न परिवारों में या योनियों में उत्पन्न होता है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित रहता है। प्रकृति द्वारा बद्ध होने पर जीव को एक प्रकार का शरीर धारण करना होता है, जो परमेश्वर के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित हैं और ये उन सारे जीवों के विचरण का निर्देश करते रहते हैं, जो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आरूढ होते हैं।” ( भगवद्गीता १८.६१ ) यह शरीर एक यंत्र के तुल्य है और जीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के वशीभूत होकर इधर-उधर विचरण करने के लिये विशेष प्रकार का यंत्र प्रदान किया जाता है। यह तब तक चलता रहता है जब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जाता ( मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते )। बिना शरण में गये बद्धजीव प्रकृति की व्यवस्था से एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाया जाता है।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।

चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिमान; तरवः—वृक्ष ( नदी के तट के ); अपि—भी; चलाः—गतिमान; इव—मानो; चक्षुषा—आँख से; भ्राम्यमाणेन—गतिमान; दृश्यते—देखा जाता है; चलती—चलती हुई, गतिमान; इव—मानो; भूः—धरती।

जल की गति के कारण नदी के तटवर्ती वृक्ष जल में प्रतिबिम्बित होकर चलते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब आँखें किसी मानसिक असंतुलन के कारण चलती रहती हैं, तो धरती ( स्थल ) भी घूमती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मानसिक असंतुलन के कारण धरती घूमती प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, एक शराबी या हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्ति कभी-कभी अनुभव करता है कि धरती गतिमान है। इसी प्रकार प्रवाहित नदी में वृक्षों के प्रतिबिम्ब भी चलते प्रतीत होते हैं। ये सब माया के कार्य हैं। वस्तुतः जीव नहीं चलता ( स्थाणुरचलोऽयम् )। जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, किन्तु नश्वर सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कारण जीव एक स्थान से दूसरे को गति करता या सदा के लिए मृत प्रतीत होता है। जैसाकि महान् बंगाली वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने कहा है—

पिशाची पाइले येन मति-च्छन्न हय ।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय ॥

प्रेम विवर्त के इस कथनानुसार जब जीव प्रकृति द्वारा बद्ध होता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान

होता है, जिसे भूत-प्रेत सताते हैं। अतएव मनुष्य को आत्मा के स्थिर पद को समझना चाहिये और जानना चाहिये कि वह किस तरह प्रकृति की लहरों के द्वारा शोक तथा लालसा के अन्तर्गत विभिन्न शरीरों तथा विभिन्न पदों तक ले जाया जाता है। मनुष्य को जीवन की सफलता तब मिलती है जब वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझते हैं और प्रकृति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से विचलित नहीं होता ( प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ) ।

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान् ।

याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; भ्राम्यमाणे—विचलित होने पर; मनसि—मन में; अविकलः—परिवर्तन के बिना; पुमान्—जीव; याति—पास जाता है; तत्-साम्यताम्—मन की विशोभ जैसी दशा; भद्रे—हे भद्र माता; हि—निश्चय ही; अलिङ्गः—सूक्ष्म या स्थूल शरीर से रहित; लिङ्ग-वान्—भौतिक शरीर से युक्त; इव—मानो ।

इसी तरह से हे मेरी भद्र माता, जब प्रकृति के गुणों की गति द्वारा यह मन विचलित होता ( भटकता ) है तब जीव, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की विभिन्न अवस्थाओं से मुक्त क्यों न हो, यही सोचता है कि वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्तित हो गया है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत ( १०.८४.१३ ) में कहा गया है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौमइज्यधीः ।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-

ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

“जो मनुष्य तीन तत्त्वों से बने शरीर को आत्मा के रूप में पहचानता है, जो अपने शरीर से उपजातों को अपना सगा मानता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थान में दिव्य ज्ञानी पुरुषों से भेंट करने नहीं, अपितु स्नान करने जाता है उसे गाय या गधा ही समझना चाहिये।” यद्यपि हिरण्यकशिपु महान् असुर था, किन्तु वह आज की जनता के समान मूर्ख न था। उसे आत्मा तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों का स्पष्ट ज्ञान था, किन्तु आज हम इतने पतित हो चुके हैं कि बड़े-बड़े विज्ञानी, दार्शनिक तथा नेता समेत प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के अधीन है, जिसकी शास्त्रों द्वारा निन्दा हुई है। स एव गोखरः—ऐसे लोग गायों तथा गधों के तुल्य हैं।

हिरण्यकशिपु ने अपने परिवार वालों को उपदेश दिया कि यद्यपि उसके भाई हिरण्याक्ष का स्थूल शरीर मृत है, जिसके कारण शोक-संतप्त हैं, किन्तु उन सबों को हिरण्याक्ष की महान् आत्मा के लिये शोक-संतप्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसे अगली गति प्राप्त हो चुकी है। आत्मा सदैव अपरिवर्तित रहता है ( अविक्लः पुमान् )। हम आत्माएँ हैं, किन्तु जब हम मानसिक कार्यकलापों ( मनोधर्म ) द्वारा बहा लिये जाते हैं, तो हमें तथाकथित भौतिक जीवन भोगना पड़ता है। ऐसा प्रायः अभक्तों के साथ होता रहता है। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः—भले ही अभक्तों में उच्च भौतिक गुण हों किन्तु मूर्ख होने के कारण उनमें एक भी उत्तम गुण नहीं रहता। भौतिक जगत में बद्धजीव की सारी उपाधियाँ शव के अलंकरण के तुल्य हैं। बद्धजीव को आत्मा तथा इस संसार के प्रभावों से परे उसके उच्च अस्तित्व का कोई ज्ञान नहीं रहता।

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना ।

एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः ॥ २५ ॥

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः ।

अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

एषः—यह; आत्म-विपर्यासः—जीवन का मोह; हि—निस्सन्देह; अलिङ्गे—भौतिक शरीरविहीन में; लिङ्ग-भावना—भौतिक शरीर को ही आत्मा मानना; एषः—यह; प्रिय—अत्यन्त प्रियों के साथ; अप्रियैः—तथा अप्रियों के साथ ( शत्रुओं, परिवार के बाहर वालों के साथ ); योगः—सम्बन्ध; वियोगः—वियोग; कर्म—कर्मफल; संसृतिः—जीवन की भौतिक दशा; सम्भवः—जन्म स्वीकार करते हुए; च—तथा; विनाशः—मृत्यु स्वीकार करते हुए; च—तथा; शोकः—शोक; च—तथा; विविधः—अनेक प्रकार के; स्मृतः—शास्त्रवर्णित; अविवेकः—विवेक-शक्ति का अभाव; च—तथा; चिन्ता—चिन्ता; च—भी; विवेक—समुचित विवेक शक्ति का; असंसृतिः—विस्मरण होना; एव—निस्संदेह; च—भी।

मोहावस्था में जीव अपने शरीर तथा मन को आत्मा स्वीकार करके कुछ व्यक्तियों को अपना सगा सम्बन्धी और अन्यो को बाहरी लोग मानने लगता है। इस भ्रान्ति के कारण उसे कष्ट भोगना पड़ता है। निस्सन्देह, ऐसे मनोभावों का संचय ही सांसारिक दुख और तथाकथित सुख का कारण बनता है। इस प्रकार स्थित होकर बद्धजीव को विभिन्न योनियों में जन्म लेना होता है और विभिन्न चेतनाओं में कर्म करना पड़ता है, जिससे नवीन शरीरों की उत्पत्ति होती है। यह सतत भौतिक जीवन संसार कहलाता है। जन्म, मृत्यु, शोक, मूर्खता तथा चिन्ता—ये सब ऐसे भौतिक विचारों के कारण होते हैं। इस तरह हम कभी उचित ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो कभी जीवन की भ्रान्त धारणा के पुनः शिकार बनते हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।  
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत ॥ २७ ॥

**शब्दार्थ**

अत्र—इस प्रसंग में; अपि—निस्सन्देह; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; यमस्य—यमराज का, जो मृत्यु का अधीक्षक है और मृत्यु के पश्चात् निर्णय सुनाता है; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत मनुष्य के मित्रों की; संवादम्—बातचीत; तम्—उसको; निबोधत—समझने का प्रयास करो।

इस प्रसंग में प्राचीन इतिहास से एक उदाहरण दिया गया है। इसमें यमराज तथा मृत व्यक्ति के मित्रों के मध्य की वार्ता निहित है। कृपया इसे ध्यानपूर्वक सुनिये।

**तात्पर्य :** इतिहास-पुरातनम् का अर्थ है “प्राचीन इतिहास”। यद्यपि पुराणों में तिथिक्रम से वर्णन नहीं मिलते, किन्तु इनमें वर्णित घटनाएँ विगत युगों की वास्तविक कथाएँ हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण है अर्थात् यह समस्त पुराणों का सार है। मायावादी पुराणों को नहीं मानते, किन्तु श्रील मध्वाचार्य तथा अन्य अधिकारी विद्वान इन्हें विश्व के प्रामाणिक इतिहासों के रूप में स्वीकार करते हैं।

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः ।  
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत ॥ २८ ॥

**शब्दार्थ**

उशीनरेषु—उशीनर नामक राज्य में; अभूत्—था; राजा—एक राजा; सुयज्ञः—सुयज्ञ; इति—इस प्रकार; विश्रुतः—प्रसिद्ध; सपत्नैः—शत्रुओं द्वारा; निहतः—मारा गया; युद्धे—युद्ध में; ज्ञातयः—सम्बन्धी जन; तम्—उसके; उपासत—चारों ओर बैठ गए।

उशीनर नामक राज्य में सुयज्ञ नाम का एक विख्यात राजा था। जब यह राजा युद्ध में शत्रुओं द्वारा मार डाला गया तो उसके सम्बन्धी मृत शरीर को घेर कर बैठ गये और उस मित्र की मृत्यु पर शोक प्रकट करने लगे।

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्त्रजम् ।  
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥ २९ ॥  
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम् ।  
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥ ३० ॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं  
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः ।  
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं  
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥ ३१ ॥

## शब्दार्थ

विशीर्ण—इधर-उधर बिखरे; रत्न—रत्नों से बना; कवचम्—सुरक्षा कवच; विभ्रष्ट—गिरा हुआ; आभरण—आभूषण; स्रजम्—मालाएँ; शर-निर्भिन्न—बाणों से बिंधा; हृदयम्—हृदय को; शयानम्—लेटा हुआ; असूक्-आविलम्—रक्तरंजित; प्रकीर्ण-केशम्—बिखरे हुए बाल को; ध्वस्त-अक्षम्—धँसी हुई आँख को; रभसा—क्रोध से; दष्ट—काटा हुआ; दच्छदम्—उसके होंठ को; रजः-कुण्ठ—धूल से ढका; मुख-अम्भोजम्—उसके कमल जैसे मुख को; छिन्न—कटे हुए; आयुध-भुजम्—उसके हथियार तथा बाहों को; मृधे—युद्धस्थल में; उशीनर-इन्द्रम्—उशीनर राज्य के स्वामी को; विधिना—विधाता से; तथा—इस तरह; कृतम्—इस दशा को प्राप्त; पतिम्—पति को; महिष्यः—रानियाँ; प्रसमीक्ष्य—देखकर; दुःखिताः—अत्यन्त दुखी; हताः—मारी गयी; स्म—निश्चय ही; नाथ—हे स्वामी; इति—इस प्रकार; करैः—हाथों से; उरः—वक्षस्थल; भृशम्—निरन्तर; घन्त्यः—पीटती हुई; मुहुः—बारम्बार; तत्-पदयोः—राजा के चरणों पर; उपापतन्—गिर पड़ीं।

वध किया हुआ राजा युद्धस्थल में लेटा था। उसका सुनहला रत्नजटित कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, उसके आभूषण तथा वस्त्र अपने-अपने स्थान से विलग हो चुके थे, उसके बाल बिखर गये थे और उसकी आँखें कान्तिहीन हो चुकी थीं, उसका सारा शरीर रक्त से सना था और उसका हृदय शत्रु के बाणों से बिंधा था। उसने मरते समय अपना शौर्य दिखाना चाहा, अतएव उसके होंठ दाँतों से भिंच गये थे और दाँत उस स्थिति में थे। उसका कमल सदृश सुन्दर मुख अब काला पड़ गया था और युद्धभूमि की धूल से भरा था। तलवार तथा अन्य हथियारों से युक्त उसकी भुजाएँ कटकर टूट चुकी थी। जब उशीनर के राजा की रानियों ने अपने पति को इस स्थिति में पड़े देखा तो वे रोने लगीं—“हे नाथ, तुम्हारे मारे जाने से हम भी मारी जा चुकी हैं।” इन शब्दों को टेर-टेर कर वे अपनी छाती पीट-पीट कर मृत राजा के चरणों पर गिर पड़ीं।

तात्पर्य : जैसा कि कहा गया है रभसा दष्टदच्छदम्—युद्ध के समय राजा क्रुद्ध था, उसने अपना पराक्रम दिखाने के लिए अपने होंठ काटे तो भी वह विधिवश ( विधिना ) मारा गया। इससे सिद्ध होता है कि हम उच्चतर शक्तियों द्वारा नियंत्रित हैं; हमारी निजी शक्ति या प्रयास सदैव श्रेष्ठ नहीं रह पाता। हमें परमेश्वर द्वारा प्रदत्त स्थिति स्वीकार करनी चाहिए।

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं

सिञ्चन्त्य अस्त्रैः कुचकुङ्कु मारुणैः ।

विस्त्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां

सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥ ३२ ॥

## शब्दार्थ

रुदत्यः—रोती हुई; उच्चैः—जोर-जोर से; दयित—अपने प्रिय पति के; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमलों को; सिञ्चन्त्यः—भिगोती हुई; अस्त्रैः—आँसुओं से; कुच-कुङ्कु म-अरुणैः—जो उसके वक्षस्थलों में लगे कुमकुम के कारण लाल हो रहे थे; विस्त्रस्त—बिखरे; केश—बाल; आभरणाः—तथा आभूषण; शुचम्—शोक; नृणाम्—सामान्य लोगों का; सृजन्त्यः—उत्पन्न करते हुए; आक्रन्दनया—अत्यन्त करुणापूर्वक रो करके; विलेपिरे—शोक करने लगीं।

रानियों के उच्च स्वर में रोने पर उनके आँसू वक्षस्थल पर लुढ़क आये जहाँ वे कुमकुम चूर्ण से लाल होकर फिर उनके पति के चरणकमलों पर गिर पड़े। उनके केश बिखर गये, उनके आभूषण गिर गये और अन्व्यों के हृदय से सहानुभूति जगाती हुई रानियाँ अपने पति की मृत्यु पर शोक करने लगीं।

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो  
भवान्प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।  
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा  
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

अहो—ओह; विधात्रा—विधाता द्वारा; अकरुणेन—अत्यन्त निर्दय; नः—हमारा; प्रभो—हे स्वामी; भवान्—आप; प्रणीतः—छीना गया; दृक्—दृष्टि की; अगोचराम्—सीमा के बाहर; दशाम्—अवस्था को; उशीनराणाम्—उशीनर राज्य के वासियों को; असि—था; वृत्ति-दः—जीविका देने वाला; पुरा—पहले; कृतः—समाप्त; अधुना—अब; येन—जिससे; शुचाम्—शोक को; विवर्धनः—बढ़ाते हुए।

हे नाथ, अब आप क्रूर विधाता द्वारा हमारी दृष्टि से ओझल कर लिये गये हैं। इसके पूर्व आप उशीनर के निवासियों को जीविका प्रदान करते थे जिससे वे सुखी थे, किन्तु अब आपकी दशा उनके दुख का कारण बनी है।

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते  
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।  
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः  
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

त्वया—तुम; कृतज्ञेन—अत्यन्त कृतज्ञ व्यक्ति के; वयम्—हम; मही-पते—हे राजा; कथम्—कैसे; विना—बिना; स्याम—रहेगी; सुहृत्-तमेन—हमारे मित्रों में श्रेष्ठ; ते—तुम्हारे; तत्र—वहाँ; अनुयानम्—अनुगमन करते हुए; तव—तुम्हारा; वीर—हे वीर पुरुष; पादयोः—चरणकमलों की; शुश्रूषतीनाम्—सेवा में लगे रहने वालों का; दिश—कृपया आज्ञा दें; यत्र—कहाँ; यास्यसि—जाओगे।

हे राजा, हे वीर, आप अत्यन्त कृतज्ञ पति थे और हम सबों के अत्यन्त निष्ठावान् मित्र थे। आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी? हे वीर, आप जहाँ भी जा रहे हैं, कृपा करके हमारा निर्देशन करें जिससे हम आपके पदचिन्हों का अनुसरण कर सकें और पुनः आपकी सेवा कर सकें। हमें भी अपने साथ ले चलें।

तात्पर्य : पुराने जमाने में क्षत्रिय राजा सामान्यतया कई पत्नियों का पति होता था और राजा की

मृत्यु होने पर, विशेषतया युद्धभूमि में मरने पर, सारी रानियाँ पति के साथ सहमारण स्वीकार करती थीं, क्योंकि वही उनका जीवन होता था। जब पाण्डवों के पिता पाण्डु महाराज मरे तो उनके दो पत्नियाँ थीं—एक युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन की माता और दूसरी नकुल तथा सहदेव की माता—और वे दोनों ही अपने पति के साथ चिता में जल मरने के लिए तैयार थीं। बाद में ऐसा समझौता हुआ जिससे कुन्ती तो छोटे-छोटे बालकों की रखवाली के लिए जीवित रही और दूसरी पत्नी माद्री को पति के साथ मरने दिया गया। यह सहमारण की प्रथा भारत में ब्रिटिश शासन तक भी चलती रही, किन्तु बाद में इसे हतोत्साहित किया जाने लगा, क्योंकि कलियुग की प्रगति के साथ ही पत्नियों की मनोवृत्ति क्रमशः बदलती गई। इस तरह सहमारण की प्रथा एक तरह से उन्मूलित हो चुकी है। तो भी मैंने पचास वर्ष में एक डाक्टर की पत्नी को पति की मृत्यु के तुरन्त बाद स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करते देखा है। पति-पत्नी दोनों को शव-यान में जुलूस के साथ ले जाया गया। पतिव्रता पत्नी का पति के लिए ऐसा प्रखर प्रेम अत्यन्त अनूठा है।

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् ।

अनिच्छतीनां निहारमर्कोऽस्तं सञ्चवर्तत ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; विलपतीनाम्—विलाप करती रानियों का; वै—निस्सन्देह; परिगृह्य—अपनी गोद में लेकर; मृतम्—मृत; पतिम्—पति को; अनिच्छतीनाम्—न चाहती हुए; निहारम्—दाह संस्कार के लिए शव को ले जाते हुए; अर्कः—सूर्य; अस्तम्—डूबने के स्थान में; सञ्चवर्तत—चला गया।

यद्यपि शव-दाह के लिए समय उपयुक्त था लेकिन रानियाँ शव को अपनी गोद में लिए हुए विलाप करती रहीं और उन्होंने शव को ले जाने की अनुमति नहीं दी। तभी सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त हो गया।

**तात्पर्य :** वैदिक प्रथा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दिन में मरता है, तो उसका दाह-संस्कार सूर्यास्त के पूर्व हो जाना चाहिए, चाहे उसे जलाया जाये या गाड़ा जाये। यदि वह रात्रि के समय मरता है, तो अगले दिन प्रातःकाल दाह-कर्म पूरा किया जाता है। ऐसा लगता है कि रानियाँ मृत शरीर के लिए, जो लोष्ठवत् था, शोक करती रहीं और उन्होंने उसे जलाने के लिए नहीं दिया। इससे मूर्ख व्यक्तियों में व्याप्त मोह का प्रबल बन्धन स्पष्ट होता है, क्योंकि वे शरीर को आत्मा मानते हैं। सामान्यतया स्त्रियाँ कम बुद्धिमान मानी जाती हैं। केवल अज्ञानवश ही रानियाँ मृत शरीर को पति मान

रही थीं और किसी न किसी कारण सोच रही थीं कि यदि शरीर रह जाए तो उनका पति उनके साथ रहता रहेगा। ऐसी धारणा निश्चय ही गोखर अर्थात् गायों तथा गधों के लिए होती है। हमने वास्तव में देखा है कि कभी-कभी जब गाय का बछड़ा मर जाता है, तो ग्वाले उस बछड़े के मृत शरीर को मढ़ा कर गाय के समक्ष प्रस्तुत करके उसे धोखा देते हैं। इस तरह वह गाय जो वैसे दूध नहीं दुहने देती बछड़े के मृत शरीर को चाटती है और दूध दुहने देती है। इससे शास्त्र के वर्णन की पुष्टि होती है कि मूर्ख मनुष्य देहात्मबुद्धि के कारण गाय के समान होता है। न केवल मूर्ख व्यक्ति तथा स्त्रियाँ शरीर को आत्मा मानती हैं, अपितु हमने देखा है कि एक तथाकथित योगी का शव उसके शिष्यों द्वारा कई दिनों तक रखा रहने दिया गया, क्योंकि वे सोच रहे थे कि उनके गुरु समाधि में हैं। जब शरीर सड़ने लगा और दुर्गन्ध आने लगी तब कहीं जाकर शिष्यों ने तथाकथित योगी के शरीर को जलाने दिया। इस प्रकार मूर्ख व्यक्तियों में देहात्मबुद्धि अत्यन्त प्रबल होती है जिनकी तुलना गायों तथा गधों से की जाती है। आजकल बड़े-बड़े वैज्ञानिक मृत शरीरों को प्रशीतित करने के फेर में हैं जिससे भविष्य में इन प्रशीतित शरीरों को पुनः जिन्दा किया जा सके। हिरण्यकशिपु द्वारा वर्णित यह ऐतिहासिक वृत्तान्त लाखों वर्ष पूर्व घटित हुआ होगा, क्योंकि वह लाखों वर्ष पूर्व जीवित था और तब भी वह इतिहास का उदाहरण दे रहा था। अतः यह घटना हिरण्यकशिपु के जीवन काल से पहले हुई होगी, किन्तु देहात्मबुद्धि की वही अविद्या आज भी न केवल अज्ञों में अपितु वैज्ञानिकों में भी व्याप्त है, जो हिमशीतित शवों को पुनरुज्जीवित करने की बात सोचते हैं।

ऐसा लगता है कि रानियाँ शव को जलाने के लिए इसलिए नहीं दे रही थीं, क्योंकि वे अपने पति के शव के साथ मरने से डर रही थीं।

तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् ।

आह तान्बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह—निश्चय ही; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत राजा के मित्रों तथा सम्बन्धियों के; आश्रुत्य—सुनकर; परिदेवितम्—तीव्र विलाप ( जो यमराज के लोक से भी सुना जा सकता था ); आह—कहा; तान्—उनसे ( शोकसन्तप्त रानियों से ); बालकः—एक लड़का; भूत्वा—बन कर; यमः—मृत्यु के अधीक्षक यमराज ने; स्वयम्—साक्षात्; उपागतः—आकर।

जब रानियाँ राजा के मृत शरीर के लिए विलाप कर रही थीं तो उनका तीव्र विलाप यमलोक तक में सुनाई पड़ रहा था। अतएव बालक का रूप धारण करके यमराज मृतक के सम्बन्धियों

के निकट पहुँचे और उन्हें इस प्रकार से उपदेश दिया।

तात्पर्य : कभी-कभी जीव को अपना शरीर त्याग कर यमराज के निर्णय के अनुसार दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। किन्तु बद्धजीव के लिए दूसरे शरीर में प्रवेश करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक मृत शरीर को दाह संस्कार द्वारा या अन्य किसी साधन से विनष्ट न कर दिया जाये। जीव को वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति होती है और वह दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं करना चाहता, अतएव तब तक वह प्रेत बनकर रहता है। यदि मरा हुआ व्यक्ति पुण्यात्मा होता है, तो यमराज उसे मुक्त करने के उद्देश्य से दूसरा शरीर प्रदान करते हैं। चूँकि राजा के शरीर के जीव को उसके शरीर से आसक्ति थी, अतएव वह प्रेत बनकर मँडरा रहा था और इसीसे यमराज विशेष रूप से शोकमग्न सम्बन्धियों को स्वयं उपदेश देने के लिए उनके पास गये। यमराज उनके पास बालक-वेश में गये, क्योंकि बालक को कहीं भी जाने की छूट रहती है, यहाँ तक कि राजमहल में भी। इसके अतिरिक्त यह बालक दर्शन की बातें कर रहा था। जब कोई बालक दर्शन की बातें करता है, तो लोग सुनने में बड़ी रुचि लेते हैं।

श्रीयम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां

विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।

यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं

स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

श्री-यमः उवाच—श्री यमराज ने कहा; अहो—ओह; अमीषाम्—इनका; वयसा—उम्र से; अधिकानाम्—जिनकी आयु अधिक है, उनका; विपश्यताम्—प्रति दिन देखते हुए; लोक-विधिम्—प्रकृति के नियम को ( कि हर कोई मरता है ); विमोहः—मोह; यत्र—जहाँ से; आगतः—आया हुआ; तत्र—वहाँ; गतम्—लौटा हुआ; मनुष्यम्—मनुष्य; स्वयम्—स्वयं; स-धर्माः—स्वभाव में समान ( मरने के लिए उद्यत ); अपि—यद्यपि; शोचन्ति—विलाप करते हैं; अपार्थम्—व्यर्थ ही।

श्री यमराज ने कहा—ओह! यह कितना आश्चर्यजनक है। ये लोग, जो मुझसे वय में बड़े हैं उन्हें अच्छी तरह अनुभव है कि सैकड़ों हजारों जीव जन्म लेते और मरते हैं। इस तरह उन्हें समझना चाहिए कि उन्हें भी मरना है, तो भी वे मोहग्रस्त रहते हैं। बद्धजीव अज्ञात स्थान से आते हैं और मृत्यु के बाद उसी अज्ञात स्थान को लौट जाते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं मिलता तो यह जानते हुए भी वे व्यर्थ शोक क्यों करते हैं?

तात्पर्य : भगवद्गीता ( २.२८ ) में भगवान् कहते हैं—

*अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।*

*अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥*

“सारे सृजित जीव प्रारम्भ में अप्रकट रहते हैं, बीच में प्रकट होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अप्रकट हो जाते हैं। अतएव शोक करने की क्या आवश्यकता है?”

यह मानते हुए कि दार्शनिकों की दो श्रेणियाँ हैं जिनमें से एक आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करता है और दूसरी नहीं करती, इन दोनों ही दशाओं में शोक करने का कोई कारण नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अनुयायी आत्मा के अस्तित्व पर न विश्वास करने वालों को नास्तिक कहते हैं। फिर भी यदि हम तर्क के लिए नास्तिकवाद सिद्धान्त को मान लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं होता। आत्मा के पृथक् अस्तित्व के अलावा सृष्टि के पूर्व भौतिक तत्त्व अव्यक्त रहते हैं। किन्तु अव्यक्तता की इस सूक्ष्म दशा से ही व्यक्तता आती है, जिस तरह शून्य से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद पृथ्वी से प्रकट होता है। इसे ध्वस्त कर देने पर वह पुनः अप्रकट हो जाता है और अन्ततः परमाणुओं के रूप में रह आता है। ऊर्जा के संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम में वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—यह अन्तर है। तो प्रकट होने या अप्रकट होने पर शोक करने का क्या लाभ है? अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ खोती नहीं। प्रारम्भ में तथा अन्त में इन दोनों ही अवस्थाओं में सारे तत्त्व अव्यक्त रहते हैं और इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* में दिये गये वैदिक निर्णय को स्वीकार करें (*अन्तवन्त इमे देहाः*) कि ये भौतिक शरीर कालक्रम से विनष्ट हो जाएँगे (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*) किन्तु आत्मा नित्य है, तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र की भाँति हैं; तो फिर वस्त्र-परिवर्तन के लिए शोक कैसा? नित्य आत्मा के आगे भौतिक शरीर का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न जैसा है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की तरह रथ में आसीन हो सकते हैं, किन्तु जगने पर हम अपने को न तो आकाश में उड़ते, न रथ पर आसीन पाते हैं। वैदिक वाङ्मय भौतिक देह के अनस्तित्व के आधार पर आत्म-साक्षात्कार पर बल देता है। अतएव दोनों ही तरह से, चाहे कोई आत्मा के अस्तित्व को

मानता हो या न मानता हो, शरीर की क्षति के लिए शोक करना व्यर्थ है।

महाभारत में कहा गया है—*अदर्शनाद् इहायातः पुनश्चादर्शनं गतः।* इस कथन से नास्तिक विज्ञानियों के सिद्धान्त का समर्थन होता है कि माता के गर्भ में शिशु के प्राण नहीं होते और वह एक पिंड जैसा रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि शल्यक्रिया द्वारा किसी पदार्थ के पिंड को बाहर निकाल लिया जाये (गर्भपात कराया जाये) तो जीव की हत्या नहीं होती। शिशु का शरीर तो ट्यूमर (अर्बुद) की भाँति होता है और यदि इस ट्यूमर को शल्यक्रिया द्वारा काट कर निकाल लिया जाये और फेंक दिया जाए तो इसमें कोई पाप नहीं होता। यही तर्क राजा तथा रानियों के प्रसंग में भी दिया जा सकता है। राजा का शरीर अव्यक्त स्रोत से व्यक्त हुआ था और अब वह व्यक्त से अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो गया था। चूँकि व्यक्तता (अभिव्यक्ति) केवल दो अव्यक्तताओं के मध्य में विद्यमान रहती है, तो फिर कोई इस अन्तराल में प्रकट हुए शरीर के लिए क्यों रोए ?

अहो वयं धन्यतमा यदत्र

त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।

अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः

स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमाः—अत्यन्त भाग्यशाली; यत्—क्योंकि; अत्र—इस समय; त्यक्ताः—असुरक्षित, अकेले छोड़ी हुई; पितृभ्याम्—पिता तथा माता दोनों के द्वारा; न—नहीं; विचिन्तयामः—चिन्ता करते; अभक्ष्यमाणाः—न खाई जाकर; अबलाः—अत्यन्त निर्बल; वृक-आदिभिः—भेड़िया तथा अन्य हिंस्र पशुओं द्वारा; सः—वह ( भगवान् ); रक्षिता—रक्षा करेगा; रक्षति—रक्षा कर चुका है; यः—जो; हि—निश्चय ही; गर्भे—गर्भ के भीतर।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि इन वयोवृद्ध महिलाओं को हमारे जैसा भी उच्चतर जीवन-बोध नहीं है! निस्सन्देह, हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं, क्योंकि यद्यपि हम बालक हैं और अपने माता-पिता के द्वारा जीवन-संघर्ष करने के लिए असुरक्षित छोड़ दिये गये हैं और यद्यपि हम अत्यन्त निर्बल हैं, तो भी हिंस्र पशुओं ने न तो हमें खाया, न विनष्ट किया। इस तरह हमें दृढ़ विश्वास है कि जिस भगवान् ने हमें माता के गर्भ में भी सुरक्षा प्रदान की है वे ही हमारी सर्वत्र रक्षा करते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति—* भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार भगवान् सबों की रक्षा करते हैं और उनकी

इच्छानुसार भोगने के लिए जीव को विभिन्न शरीर प्रदान करते हैं। सब कुछ भगवान् के आदेश से होता है अतएव हमें जीव के जन्म तथा मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये भगवान् द्वारा नियोजित होते हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को चाहिए कि हृदय में स्थित भगवान् की आज्ञानुसार ही कर्म करे। किन्तु जीव स्वतंत्र होकर कर्म करना चाहता है, अतएव भगवान् उसे कर्म करने तथा फलों का अनुभव करने की सुविधा देते रहते हैं। भगवान् कहते हैं *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—“अन्य समस्त कर्तव्यों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।” जो भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करता उसे इस भौतिक जगत का भोग करने की सुविधा दे दी जाती है। भगवान् बद्धजीव को रोकने के बजाय भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे परिपक्व अनुभव होने पर अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद (*बहूनां जन्मनामन्ते*) वह यह समझे कि वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना ही सारे जीवों का एकमात्र कर्तव्य है।

य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो

य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।

तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-

श्रराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इच्छया—उसकी इच्छा से (किसी के द्वारा बाध्य होकर नहीं); ईशः—परम नियन्ता; सृजति—उत्पन्न करता है; इदम्—इस (भौतिक जगत) को; अव्ययः—यथारूप में रहकर (इतनी सारी भौतिक सृष्टियों को उत्पन्न करने के कारण अपने अस्तित्व को खोये बिना); यः—जो; एव—निस्सन्देह; रक्षति—पालन करता है; अवलुम्पते—संहार करता है; च—भी; यः—जो; तस्य—उसका; अबलाः—हे दीन स्त्रियों; क्रीडनम्—खेल; आहुः—वे कहते हैं; ईशितुः—भगवान् का; चर-अचरम्—चर तथा अचर; निग्रह—विनाश में; सङ्ग्रहे—या रक्षा में; प्रभुः—पूर्ण समर्थ।

उस बालक ने स्त्रियों को सम्बोधित किया: हे अबलाओ, उस अविनाशी भगवान् की इच्छा से सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। यह वेदों का निर्णय है। चर तथा अचर से युक्त यह भौतिक सृष्टि उनके खिलौने के समान है। परमेश्वर होने के कारण वे इसको विनष्ट करने तथा इसकी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में रानियाँ तर्क कर सकती हैं “यदि भगवान् ने हमारे पति की रक्षा गर्भ में की

थी तो अब वे क्यों नहीं कर रहे?” इस प्रश्न का उत्तर यह है *य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः*। कोई भगवान् के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता। भगवान् सदैव स्वतंत्र हैं, अतएव वे रक्षा कर सकते हैं और संहार भी कर सकते हैं। वे हमारे आदेशवाहक (बैरा) नहीं हैं। जो उन्हें रुचता है वे वही करते हैं। अतएव वे परमेश्वर हैं। भगवान् इस संसार का सृजन किसी के अनुरोध पर नहीं करते, अतएव वे अपनी इच्छा मात्र से समस्त वस्तुओं का संहार कर सकते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। यदि कोई तर्क करता है कि “वे इस तरह क्यों करते हैं?” तो इसका उत्तर यही है कि वे ऐसा इसलिए कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। कोई उनके कार्यकलापों के प्रति आपत्ति नहीं कर सकता। यदि कोई तर्क करता है कि “इस पापपूर्ण सृष्टि तथा संसार का क्या प्रयोजन है?” तो इसका उत्तर यह है कि वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं और कोई उनसे पूछ नहीं सकता। यदि उन्हें इसका उत्तर देना होता कि वे ऐसा क्यों करते हैं और ऐसा क्यों नहीं करते हैं, तो उनकी सर्वश्रेष्ठता में बट्टा लगता।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं

गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने

गृहेऽभिगुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पथि—रास्ते में; च्युतम्—गिरा हुआ, अधिकार से वंचित; तिष्ठति—बना रहता है; दिष्ट-रक्षितम्—भाग्य द्वारा रक्षित; गृहे—घर में; स्थितम्—यद्यपि स्थित; तत्-विहतम्—परमेश्वर की इच्छा से मारा गया; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; जीवति—जीवित रहता है; अनाथः अपि—बिना रक्षक के भी; तत्-ईक्षितः—भगवान् द्वारा रक्षित होकर; वने—जंगल में; गृहे—घर में; अभिगुप्तः—पूरी तरह गुप्त तथा रक्षित; अस्य—इसका; हतः—मारा गया; न—नहीं; जीवति—बचता है।

कभी-कभी मनुष्य अपना धन सड़क पर खो देता है जहाँ सभी उसे देख सकते हैं; फिर भी यह धन भाग्यवश सुरक्षित पड़ा रहता है और इसे कोई नहीं देख पाता। इस तरह जिस व्यक्ति ने इस धन को खोया था, उसे यह वापस मिल जाता है। दूसरी ओर, यदि भगवान् सुरक्षा प्रदान नहीं करते तो घर में अत्यन्त सुरक्षित ढंग से रखा होने पर भी यह धन खो जाता है। यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो उसका कोई रक्षक न होते हुए भी तथा जंगल में रहते हुए भी वह जीवित रहता है जब कि घर पर सम्बन्धियों तथा अन्यो से रक्षित होते हुए भी मनुष्य कभी-कभी मर जाता है; कोई उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

**तात्पर्य :** ये भगवान् की श्रेष्ठता के उदाहरण हैं। रक्षा करने या संहार करने की हमारी योजनाएँ सफल नहीं होतीं, किन्तु भगवान् जो भी करने की सोच लेते हैं वह सचमुच होकर रहता है। इस प्रसंग में दिये गये उदाहरण व्यावहारिक हैं। हर एक को ऐसे अनुभव हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्पष्ट उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज ने कहा कि सचमुच ही बालक अपने माता-पिता पर आश्रित रहता है, किन्तु उनके होते हुए भी बालक को अनेक यातनाएँ सहनी होती हैं। कभी-कभी अच्छी से अच्छी दवा एवं अनुभवी वैद्य के होते हुए भी रोगी बच नहीं पाता। चूँकि सब कुछ भगवान् की मुक्त इच्छा (मर्जी) पर निर्भर है, अतएव हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम उनकी शरण में जाएँ और उनका आश्रय खोजें।

**भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-**

**र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।**

**न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-**

**स्तस्या गुणैरन्यतमो हि बध्यते ॥ ४१ ॥**

#### शब्दार्थ

भूतानि—जीवों के समस्त शरीर; तैः तैः—अपने अपने; निज-योनि—अपने शरीर उत्पन्न करके; कर्मभिः—पूर्व कर्मों के द्वारा; भवन्ति—प्रकट होते हैं; काले—काल क्रम से; न भवन्ति—अदृश्य होते हैं; सर्वशः—सभी तरह से; न—नहीं; तत्र—वहाँ; ह—निसन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—इस भौतिक जगत के भीतर; अपि—यद्यपि; स्थितः—स्थित; तस्याः—उस ( भौतिक शक्ति ) के; गुणैः—विभिन्न गुणों के द्वारा; अन्य-तमः—अत्यन्त भिन्न; हि—निसन्देह; बध्यते—बाँधा जाता है।

प्रत्येक बद्धजीव अपने कर्म के अनुसार भिन्न प्रकार का शरीर पाता है और जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है, तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि आत्मा विभिन्न योनियों में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों में स्थित रहता है, किन्तु वह उनसे बाँधा नहीं रहता, क्योंकि वह व्यक्त शरीर से सदा-सदा पूर्णतया भिन्न माना जाता है।

**तात्पर्य :** यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जीव द्वारा विभिन्न शरीर धारण किये जाने के लिये ईश्वर जिम्मेदार नहीं है। जीव को प्रकृति के नियमों तथा अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करना होता है। अतएव वैदिक आदेश है कि भौतिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को ऐसे निर्देश दिये जाँय जिससे वह अपने कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा सके और बारम्बार जन्म-मरण के भव-बन्धन से छूट सके ( *स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः* )। भगवान् तो सदा ही निर्देश देने के लिए तत्पर रहते हैं। निसन्देह, उनके निर्देश *भगवद्गीता* में विस्तार से दिये हुए हैं। यदि हम इन निर्देशों का

लाभ उठाएँ तो प्रकृति के नियमों से बद्ध रह कर भी हम अपनी मूल स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र हो सकेंगे ( मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ) । हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं और यदि हम उनकी शरण ग्रहण करें तो वे हमारी जिम्मेदारी ले कर हमें बता सकेंगे कि किस तरह भौतिक जीवन से छूट कर हम भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं । ऐसी शरणागति के बिना मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार शरीर-विशेष धारण करना पड़ता है—कभी पशु का तो कभी देवता का आदि आदि । यद्यपि शरीर यथासमय मिलता और विनष्ट होता है, किन्तु आत्मा वास्तव में शरीर में मिलता नहीं, अपितु उस गुण-विशेष के वशीभूत होता है, जिससे वह पापपूर्ण ढंग से जुड़ा रहता है । आध्यात्मिक शिक्षा से मनुष्य की चेतना बदल जाती है, जिससे वह भगवान् की आज्ञाओं का पालन करता है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है ।

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं

यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम् ।

यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः

कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—इस; शरीरम्—शरीर को; पुरुषस्य—बद्धजीव का; मोह-जम्—अविद्या से उत्पन्न; यथा—जिस तरह; पृथक्—भिन्न; भौतिकम्—भौतिक; ईयते—देखा जाता है; गृहम्—घर को; यथा—जिस तरह; उदकैः—जल से; पार्थिव—पृथ्वी से; तैजसैः—तथा अग्नि से; जनः—बद्धजीव; कालेन—काल द्वारा; जातः—उत्पन्न; विकृतः—रूपान्तरित; विनश्यति—नष्ट हो जाता है ।

जिस प्रकार एक गृहस्वामी अपने घर से पृथक् होते हुए भी अपने घर को अपने से अभिन्न मानता है उसी प्रकार अज्ञानवश बद्धजीव इस शरीर को आत्मा मान बैठता है, यद्यपि शरीर आत्मा से वास्तव में भिन्न है । यह शरीर पृथ्वी, जल तथा अग्नि के अंशों के संयोग से प्राप्त होता है और जब वे कालक्रम में रूपान्तरित हो जाते हैं, तो शरीर विनष्ट हो जाता है । आत्मा को शरीर के इस सृजन तथा विलय से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता ।

तात्पर्य : हम एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करते हैं । ये शरीर हमारे मोह से जन्य हैं, किन्तु आत्माएँ भौतिक बद्ध जीवन से पृथक् विद्यमान हैं । यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि घर या मोटरकार उसके स्वामी से सदा पृथक् होती हैं, किन्तु बद्धजीव आसक्ति के कारण उसे अपने से अभिन्न मानता है । मोटरकार या घर वास्तव में भौतिक तत्त्वों से बना होता है । जब तक भौतिक तत्त्व सही ढंग

से मिले रहते हैं, तो मोटरकार या घर का अस्तित्व रहता है, किन्तु उनके विलग होते ही घर या मोटरकार भी ध्वस्त हो जाती है। किन्तु आत्मा तो सदैव जैसे का तैसा बना रहता है।

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते

यथानिलो देहगतः पृथक्स्थितः ।

यथा नभः सर्वगतं न सज्जते

तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥ ४३ ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—आग; दारुषु—काष्ठ में; भिन्नः—पृथक्; ईयते—देखी जाती है; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; देह-गतः—शरीर के भीतर; पृथक्—विलग; स्थितः—स्थित; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; सर्व-गतम्—सर्वव्यापक; न—नहीं; सज्जते—मिलता है, लिप्त होता है; तथा—उसी प्रकार; पुमान्—जीव; सर्व-गुण-आश्रयः—यद्यपि प्रकृति के सभी गुणों का आश्रय; परः—भौतिक कल्मष से परे।

जिस तरह अग्नि काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु वह काष्ठ से भिन्न समझी जाती है, जिस तरह वायु मुँह तथा नथुनों के भीतर स्थित रहती है, किन्तु उनसे पृथक् मानी जाती है और जिस तरह आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता उसी तरह जीव भी, जो भले ही इस समय भौतिक शरीर में बन्दी है, उस शरीर का स्रोत होते हुए भी उससे पृथक् है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् ने बताया है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही शक्तियाँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं। भौतिक शक्ति को मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा—भगवान् की आठ पृथक् शक्तियाँ कहा गया है। यद्यपि आठ स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शक्तियाँ हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, भिन्ना अर्थात् भगवान् से पृथक् कही गई हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसी हैं नहीं। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से पृथक् प्रतीत होती है और जिस तरह नथुनों तथा मुँह में से होकर निकलने वाली वायु शरीर से भिन्न लगती है उसी तरह परमात्मा जीव से भिन्न लगता है, किन्तु एक ही साथ वह भिन्न तथा अभिन्न होता है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व का दर्शन है। कर्मफलों के अनुसार प्राणी भगवान् से पृथक् प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध होता है। फलस्वरूप भले ही इस समय हम भगवान् द्वारा उपेक्षित लगें, लेकिन वास्तव में वे हमारे कार्यकलापों के प्रति सदैव सजग रहते हैं। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में हमें भगवान् की श्रेष्ठता पर ही आश्रित रहना चाहिए और उनके साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हमें भगवान् की सत्ता तथा नियंत्रण पर आश्रित रहना चाहिए।

सुयज्ञो नन्वयं शोते मूढा यमनुशोचथ ।

यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

सुयज्ञः—सुयज्ञ नामक राजा; ननु—निस्सन्देह; अयम्—यह; शोते—लेटा है; मूढाः—हे मूर्ख जनो; यम्—जिसको; अनुशोचथ—रोदन करते हो; यः—जो; श्रोता—सुनने वाला; यः—जो; अनुवक्ता—बोलने वाला; इह—इस संसार में; सः—वह; न—नहीं; दृश्येत—दृष्टिगोचर है; कर्हिचित्—किसी भी समय।

यमराज ने आगे कहा : हे शोक करने वालो, तुम सारे के सारे मूर्ख हो। तुम जिस सुयज्ञ नाम व्यक्ति के लिए शोक कर रहे हो वह तुम्हारे समक्ष अब भी लेटा है। वह कहीं नहीं गया। तो फिर तुम्हारे शोक का क्या कारण है? पहले वह तुम्हारी बातें सुनता था और उत्तर देता था, किन्तु तुम लोग अब उसे न पाकर शोक कर रहे हो। यह विरोधमूलक आचरण है, क्योंकि तुमने वास्तव में उस व्यक्ति को शरीर के भीतर कभी नहीं देखा था, जो तुम्हें सुनता था और उत्तर देता था। तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुम जिस शरीर को हमेशा देखते आये हो वह तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है।

तात्पर्य : बालक के रूप में यमराज द्वारा दिया गया यह उपदेश सामान्य व्यक्ति की भी समझ में आने वाला है। जो सामान्य व्यक्ति शरीर को आत्मा मान लेता है, वह निश्चय ही पशु सदृश है (यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः) लेकिन एक सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि मृत्यु के बाद मनुष्य चला जाता है। यद्यपि शरीर वही पड़ा रहता है, किन्तु मृत व्यक्ति के सम्बन्धी शोक करते हैं कि वह चला गया है क्योंकि सामान्य व्यक्ति शरीर को तो देखता है, किन्तु आत्मा को नहीं देखता। जैसाकि भगवद्गीता में वर्णन हुआ—देहिनोऽस्मिन् यथा देहे—शरीर का मालिक आत्मा भीतर रहता है। मृत्यु के बाद जब श्वास नथुनों के भीतर जानी बन्द हो जाती है, तो लोग समझ सकते हैं कि शरीर के भीतर जो व्यक्ति अभी तक सुन कर उत्तर दे रहा था अब चला गया है। अतएव वास्तव में सामान्य व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालता है कि आत्मा शरीर से सचमुच भिन्न था और अब चला गया है। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति भी अपने होश में रह कर यह जान सकता है कि जो वास्तविक व्यक्ति शरीर के भीतर था और सुन कर उत्तर दे रहा था वह कभी दिखा नहीं। अतएव जो कभी दिखा न हो, उसके लिए शोक करने की क्या आवश्यकता है ?

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।

यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; श्रोता—सुनने वाला; न—नहीं; अनुवक्ता—बोलने वाला; अयम्—यह; मुख्यः—मुख्य, प्रधान; अपि—यद्यपि; अत्र—इस शरीर में; महान्—महान्; असुः—प्राणवायु; यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस शरीर में; इन्द्रिय-वान्—समस्त इन्द्रियों से युक्त; आत्मा—आत्मा; सः—वह; च—तथा; अन्यः—भिन्न; प्राण-देहयोः—प्राणवायु तथा भौतिक शरीर से।

शरीर में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु प्राण है, किन्तु वह भी न तो श्रोता है और न वक्ता। यहाँ तक कि प्राण से परे आत्मा भी कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वास्तविक निदेशक तो परमात्मा है, जो जीवात्मा के साथ सहयोग करता है। शरीर की गतिविधियों को संचालित करने वाला परमात्मा शरीर तथा प्राण से भिन्न है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।” यद्यपि आत्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है ( *देहिनोऽस्मिन् यथा देहे* ) किन्तु वह इन्द्रियों, मन इत्यादि के माध्यम से कर्म करने वाला प्रधान पुरुष नहीं है। आत्मा तो परमात्मा के ही सहयोग से कार्य कर सकता है, क्योंकि परमात्मा ही उसे कर्म करने या न करने का निर्देश देता है ( *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च* )। कोई उनकी स्वीकृति के बिना कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा *उपद्रष्टा* तथा *अनुमन्ता* अर्थात् साक्षी तथा अनुमति देने वाला दोनों हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ध्यान से अध्ययन करता है, वही इस असली ज्ञान को समझ सकता है कि भगवान् ही व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा) के समस्त कार्य-कलापों के संचालक एवं उन कार्यों के फलों के नियामक हैं। यद्यपि जीवात्मा में इन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वह वास्तविक स्वामी नहीं होता, स्वामी तो परमात्मा होता है। फलस्वरूप परमात्मा को हृषीकेश कहा जाता है और परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा को यही सलाह देते हैं कि उनकी शरण ग्रहण करके सुखी बना जाये ( *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज* )। इस प्रकार वह अमर होकर वैकुण्ठधाम को सकता है जहाँ उसे नित्य, ज्ञान-मय एवं आनन्दमय जीवन की परम सफलता प्राप्त होगी। निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा शरीर के भीतर की वायु से भिन्न है और उसके ऊपर परमात्मा होता है, जो उसको सारी सुविधाएँ प्रदान करता है। जो जीवात्मा परमात्मा के लिए सब कुछ करता है, वह शरीर के भीतर सुखपूर्वक निवास करता है।

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान्देहानुच्चावचान्विभुः ।

भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥ ४६ ॥

### शब्दार्थ

भूत—पाँच भौतिक तत्त्वों से; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; मनः—तथा मन; लिङ्गान्—लक्षणयुक्त; देहान्—स्थूल शरीरों को; उच्च-अवचान्—उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग को; विभुः—जीवात्मा, जो शरीर तथा इन्द्रियों का स्वामी है; भजति—प्राप्त करता है; उत्सृजति—त्याग देता है; हि—निस्सन्देह; अन्यः—पृथक् होने से; तत्—उस; च—भी; अपि—निस्सन्देह; स्वेन—अपने; तेजसा—उच्च ज्ञान की शक्ति से।

पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सभी मिलकर स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के विभिन्न अंगों का निर्माण करते हैं। जीव अपने भौतिक शरीरों के सम्पर्क में आता है, चाहे ये उच्च हों या निम्न और बाद में अपनी निजी शक्ति से उन्हें त्याग देता है। यह शक्ति जीव की उस निजी शक्ति में देखी जा सकती है, जिससे वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर सकता है।

तात्पर्य : बद्धजीव के ज्ञान होता है और यदि वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का पूरा उपयोग जीवन के वास्तविक विकास में करना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है। अतएव यहाँ यह कहा गया है कि वह अपनी उच्च बुद्धि से ( स्वेन तेजसा ) सही स्रोत अर्थात् गुरु या आचार्य से प्राप्त श्रेष्ठ ज्ञान की श्रेष्ठ शक्ति से अपने बद्ध जीवन को भौतिक शरीर में छोड़कर भगवद्धाम वापस जा सकता है। किन्तु यदि वह अपने को भौतिक संसार के अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भी कर सकता है। भगवान् इसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.२५) में इस प्रकार करते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे; जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे ऐसे जीवों के बीच जन्मते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे पूर्वजों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।”

मनुष्य का शरीर मूल्यवान है। कोई चाहे तो इस शरीर का उपयोग उच्च लोक तथा पितृलोक जाने के लिए कर सकता है या वह इसी अधोलोक में रह सकता है। किन्तु यदि वह प्रयत्न करे तो भगवद्धाम वापस जा सकता है। यह शक्ति परमात्मा रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न है।” यदि कोई भगवान् से असली ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो वह बारम्बार शरीर धारण करने के बन्धन से

मुक्त हो सकता है। यदि कोई भगवान् की भक्ति स्वीकार करता है और उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् उसे भगवद्धाम वापस जाने का निर्देश देने के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु यदि कोई मूर्खतावश अपने को अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भौतिक जीवन में ही रह सकता है।

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम् ।  
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥ ४७ ॥

#### शब्दार्थ

यावत्—जब तक; लिङ्ग-अन्वितः—सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; तावत्—तब तक; कर्म—सकाम कर्मों का; निबन्धनम्—बन्धन; ततः—उससे; विपर्ययः—उल्टा ( धोखे से शरीर को आत्मा मानते हुए ); क्लेशः—कष्ट; माया-योगः—बहिरंगा भ्रामक शक्ति के साथ प्रबल सम्बन्ध; अनुवर्तते—पीछा करता है।

जब तक आत्मा मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत रहता है तब तक वह अपने सकाम-कर्मों के फल से बँधा रहता है। इस आवरण के कारण आत्मा भौतिक शक्ति से जुड़ा रहता है। अतएव उसे उसी के अनुसार जन्म-जन्मांतर भौतिक दशाओं एवं विपर्ययों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जीव सूक्ष्म शरीर द्वारा बँधा हुआ है, जिसमें मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार सम्मिलित रहते हैं। अतएव मृत्यु के समय की मानसिक स्थिति अगले शरीर का कारण बनती है। जैसाकि भगवद्गीता (८.६) में पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय मन उस मानदण्ड को निर्धारित कर देता है, जिससे आत्मा दूसरे प्रकार के शरीर में ले जाया जाता है। यदि जीव मन की आज्ञा का विरोध करता है और मन को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है, तो मन उसे नीचे नहीं गिरा सकता। अतएव सारे मनुष्यों का कर्तव्य है कि मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों में संलग्न रखें (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*)। जब मन कृष्ण के चरणकमलों में लगा रहता है, तो बुद्धि विमल हो जाती है और उसे परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त होती है (*ददामि बुद्धियोगं तम्*)। इस तरह जीव भव-बन्धन से मुक्ति की दिशा में प्रगति करता है। जीवात्मा सकाम कर्म के नियमों के अधीन रहता है, किन्तु परमात्मा इनके प्रभावित नहीं होता। जैसाकि वैदिक उपनिषद् में पुष्टि हुई है, परमात्मा तथा जीवात्मा एक शरीर में बैठे हुए दो पक्षियों की तरह हैं। जीवात्मा शारीरिक कर्मों के फल खाकर सुख या दुख भोगता है, लेकिन परमात्मा ऐसे बन्धन से मुक्त होने के कारण साक्षी बना रहता है और जीवात्मा की इच्छानुसार उसे कर्मों की अनुमति देता रहता है।

वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्बचः ।

यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥ ४८ ॥

### शब्दार्थ

वितथ—व्यर्थ; अभिनिवेशः—धारणा; अयम्—यह; यत्—जो; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; अर्थ—तथ्य के रूप में; दृक्-वचः—देखना तथा बोलना; यथा—जिस तरह; मनोरथः—मानसिक कल्पना ( दिवास्वप्न ); स्वप्नः—स्वप्न; सर्वम्—सब कुछ; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से उत्पन्न; मृषा—झूठ ।

प्रकृति के गुणों तथा उनसे उत्पन्न तथाकथित सुख तथा दुख को वास्तविक रूप से देखना तथा उनके विषय में बातें करना व्यर्थ है। जब दिन में मन विचरता रहता है और मनुष्य अपने को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझने लगता है या जब वह रात में सपने देखता है और अपने को किसी सुन्दरी के साथ रमण करते देखता है, तो ये मात्र मिथ्या स्वप्न होते हैं। इसी प्रकार से भौतिक इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न सुखों तथा दुखों को व्यर्थ समझना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों के कार्यकलापों से प्राप्त होने वाले सुख-दुख वास्तविक नहीं होते। अतएव भगवद्गीता ऐसे सुख की बात करती है, जो भौतिक जीवन-बोध से परे हैं ( सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् )। जब हमारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाती हैं, तो वे अतीन्द्रिय अर्थात् दिव्य इन्द्रियाँ बन जाती हैं और जब ये दिव्य इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को असली दिव्य आनन्द प्राप्त हो सकता है। अपने सूक्ष्म मन के मनोरथ द्वारा हम जो भी सुख या दुख निर्माण करते हैं उसमें यथार्थ वास्तविकता नहीं होती, वह मात्र मनोरथ (मानसिक कल्पना) होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि मनोरथ द्वारा तथाकथित सुख की कल्पना न करे। प्रत्युत सबसे अच्छा मार्ग तो यह है कि मन को हृषीकेश की सेवा में लगाया जाये और वास्तविक आनन्दमय जीवन का अनुभव किया जाये।

वैदिक उक्ति है— अपामसोममृता अभूम अप्सरोभिर्विहराम। ऐसी विचारधारा से मनुष्य स्वर्गलोक जाकर युवतियों के साथ भोग करना तथा सोमरस का पान करना चाहता है। किन्तु ऐसे काल्पनिक आनन्द का कोई महत्त्व नहीं है। जैसाकि भगवद्गीता (७.२३) में पुष्टि की गई है— अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्—अल्प बुद्धि वाले लोग देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को सीमित तथा क्षणिक फल प्राप्त होता है। यदि कोई सकाम कर्म द्वारा या देवताओं की पूजा से इन्द्रियभोग के लिए स्वर्गलोक चला भी जाये तो भगवद्गीता द्वारा ऐसे पद को अन्तवत् अर्थात् नश्वर बताकर निन्दा की गई

है। जो इस तरह से सुख भोगता है, वह स्वप्न में सुन्दरी का आलिंगन करने जैसा होता है। भले ही कुछ काल के लिए यह सुखकर हो, किन्तु मूलतः यह मिथ्या है। इस जगत में सुख तथा दुख की मानसिक कल्पनाओं की तुलना स्वप्न से की जाती है, क्योंकि वे झूठ होते हैं। भौतिक इन्द्रियों का उपयोग करके सुख प्राप्त करने के सारे विचार मिथ्या आधार-भूमि पर टिके होते हैं अतएव व्यर्थ होते हैं।

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।

नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥ ४९ ॥

### शब्दार्थ

अथ—अतएव; नित्यम्—शाश्वत आत्मा; अनित्यम्—नश्वर भौतिक शरीर; वा—अथवा; न—नहीं; इह—इस संसार में; शोचन्ति—शोक करते हैं; तत्-विदः—जो शरीर तथा आत्मा के ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा; शक्यते—समर्थ है; कर्तुम्—करने के लिए; स्व-भावः—प्रकृति; शोचताम्—शोक करने वालों का; इति—इस प्रकार।

जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का पूरा-पूरा ज्ञान है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि आत्मा नित्य है किन्तु शरीर नश्वर है, वे शोक द्वारा अभिभूत नहीं होते। किन्तु जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता वे शोक करते हैं। अतएव मोह-ग्रस्त व्यक्ति को शिक्षित कर पाना कठिन है।

तात्पर्य : मीमांसा दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्य है और सांख्य दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु मिथ्या या अनित्य अर्थात् अस्थायी है। तो भी आत्मा के असली ज्ञान के बिना ऐसे दार्शनिक मोहग्रस्त रहते हैं और शूद्रों की तरह शोक करते हैं। अतएव श्रील शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज से कहा—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।

अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

“हे राजेन्द्र! जो लोग भौतिकता में उलझे हैं, वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे होने से मानव समाज में अनेक विषयों का श्रवण करते हैं।” (भागवत् २.१.२) भौतिक कार्यकलापों में लगे हुए सामान्य मनुष्यों को जानने के लिए अनेकानेक विषय हैं, क्योंकि ऐसे लोग आत्म-साक्षात्कार को नहीं समझते। अतएव मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे जीवन की किसी भी परिस्थिति में वह अपने व्रत पर अटल रहे।

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः ।  
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥ ५० ॥

**शब्दार्थ**

लुब्धकः—बहेलिया; विपिने—जंगल में; कश्चित्—किसी; पक्षिणाम्—पक्षियों का; निर्मितः—नियुक्त; अन्तकः—मारने वाला;  
वितत्य—फैलाकर; जालम्—जाल; विदधे—पकड़ लिया; तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; प्रलोभयन्—अनाज का लालच देकर।

एक बहेलिया था, जो पक्षियों को दानों का लालच देता था और तब एक जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लेता था। वह इस तरह रह रहा था मानो साक्षात् मृत्यु ने उसे पक्षियों का वधिक नियुक्त किया हो।

तात्पर्य : यह इतिहास की दूसरी घटना है।

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत ।  
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥ ५१ ॥

**शब्दार्थ**

कुलिङ्ग-मिथुनम्—कुलिङ्ग नामक पक्षियों का जोड़ा ( नर तथा मादा ); तत्र—वहाँ ( जहाँ बहेलिया शिकार करता था );  
विचरत्—घूमते हुए; समदृश्यत—उसने देखा; तयोः—जोड़े को; कुलिङ्गी—मादा पक्षी; सहसा—एकाएक; लुब्धकेन—  
बहेलिया द्वारा; प्रलोभिता—लालच में आ गई।

जंगल में घूमते हुए उस बहेलिया ने कुलिङ्ग पक्षियों का एक जोड़ा देखा। इन दोनों में से मादा पक्षी बहेलिया के प्रलोभन में आ गई।

सासज्जत सिचस्तन्त्र्यां महिष्यः कालयन्त्रिता ।  
कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।  
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥ ५२ ॥

**शब्दार्थ**

सा—वह मादा पक्षी; असज्जत—फँस गई; सिचः—जाल की; तन्त्र्याम्—रस्सी में; महिष्यः—हे रानियो; काल-यन्त्रिता—काल के वशीभूत होकर; कुलिङ्गः—नर कुलिङ्ग पक्षी; ताम्—उसको; तथा—उस अवस्था में; आपन्नाम्—पकड़ा हुआ; निरीक्ष्य—देखकर; भृश-दुःखितः—अत्यन्त दुखी; स्नेहात्—स्नेहवश; अकल्पः—कुछ करने में असमर्थ; कृपणः—बेचारा पक्षी;  
कृपणाम्—बेचारी पत्नी के लिए; पर्यदेवयत्—शोक करने लगा।

हे सुयज्ञ की रानियो, नर कुलिङ्ग पक्षी अपनी पत्नी को विधाता के अत्यन्त स्वप्नपूर्ण चंगुल में पड़ी देखकर अत्यन्त दुखी हुआ। स्नेहवश बेचारा पक्षी अपनी पत्नी को छुड़ा न सकने के कारण उसके लिए शोक करने लगा।

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाकरुणया विभुः ।

कृपणं मामनुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥ ५३ ॥

**शब्दार्थ**

अहो—ओह; अकरुणः—अत्यन्त क्रूर; देवः—विधाता; स्त्रिया—मेरी पत्नी से; आकरुणया—जो अत्यन्त करुणापूर्ण;  
विभुः—परमेश्वर; कृपणम्—बेचारा; माम्—मेरे लिये; अनुशोचन्त्या—शोक करती; दीनया—बेचारी; किम्—क्या;  
करिष्यति—करेगा।

ओह! विधाता कितना क्रूर है। मेरी पत्नी असहाय होने से ही ऐसी विषम स्थिति में है—और मेरे लिए विलाप कर रही है। भला विधाता इस बेचारे मादा पक्षी को लेकर क्या पाएगा? उसे क्या लाभ होगा।

कामं नयतु मां देवः किमर्थेनात्मनो हि मे ।  
दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा ॥ ५४ ॥

**शब्दार्थ**

कामम्—जैसा वह चाहता है; नयतु—ले जाए; माम्—मुझको; देवः—भगवान्; किम्—क्या लाभ; अर्थेन—आधे से;  
आत्मनः—शरीर के; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दीनेन—बेचारे द्वारा; जीवता—जीवित; दुःखम्—दुख में; अनेन—इस; विधुर-  
आयुषा—कष्टमय जीवन वाला।

यदि निर्दय विधाता मेरी अर्धांगिनी, मेरी पत्नी, को लिए जा रहा है, तो वह मुझे भी क्यों नहीं ले जाता? आधा शरीर लेकर और अपनी पत्नी की क्षति से विरहित होकर मेरे जीने से क्या लाभ? मुझे इस तरह से क्या मिलेगा?

कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान्बिभर्म्यहम् ।  
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥ ५५ ॥

**शब्दार्थ**

कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अजात-पक्षान्—जिनके उड़ने के पंख अभी नहीं उगे; तान्—उन; मातृ-हीनान्—माता से बिछुड़े  
हुओं को; बिभर्मि—पालन करूँगा; अहम्—मैं; मन्द-भाग्याः—अत्यन्त अभागे; प्रतीक्षन्ते—वे प्रतीक्षा करते हैं; नीडे—घोंसले  
में; मे—मेरे; मातरम्—अपनी माता की; प्रजाः—पक्षी के बच्चे।

पक्षी के अभागे बच्चे मातृविहीन होकर अपने घोंसले में उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह आए तो उन्हें खिलाए। वे अब भी बहुत छोटे हैं और उनके पंख तक नहीं उगे हैं। मैं उनका किस प्रकार पालन कर सकूँगा?

तात्पर्य : नर पक्षी अपने बच्चों की माता के लिए शोक कर रहा है, क्योंकि माता ही बच्चों का पालन करती है और उनकी सुरक्षा करती है। लेकिन यमराज ने एक छोटे बालक के वेष में पहले ही बता दिया है कि यद्यपि उसकी माता ने उसे बिना किसी देखरेख के जंगल में घूमता छोड़ दिया था,

किन्तु भेड़िया तथा अन्य हिंसक पशुओं ने उसे नहीं खाया था। असली तथ्य यह है कि यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो वह भले ही मातृविहीन तथा पितृविहीन ही क्यों न हो, ईश्वर की इच्छा से उसका पालन हो ही जाता है। अन्यथा यदि परमेश्वर रक्षा नहीं करते तो माता-पिता के होते हुए भी मनुष्य को कष्ट भोगना पड़ता है। दूसरा उदाहरण उस रोगी का है, जो उत्तम वैद्य तथा उत्तम औषधि के होने पर भी कभी-कभी मर जाता है। इस प्रकार भगवान् की रक्षा के बिना कोई जीवित नहीं कर सकता, चाहे उसके माता-पिता हों अथवा न हों।

इस श्लोक की दूसरी बात यह है कि पक्षी तथा पशु समाज में भी बच्चों के लिए माता-पिता में सुरक्षा की भावना होती है—मानव समाज के विषय में तो क्या कहा जाये? किन्तु कलियुग में मनुष्य इतना पतित हो चुका है कि माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही विज्ञान का यह बहाना लेकर मार डालते हैं कि गर्भ के भीतर बालक में कोई प्राण नहीं होता। चूँकि अत्यन्त प्रशिक्षित चिकित्सक ऐसा अभिमत देते हैं, अतएव आजकल के माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही मार डालते हैं। मानव समाज कितना पतित हो चुका है! उनका वैज्ञानिक ज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है कि वे अंडे तथा भ्रूण के भीतर जीवन नहीं मानते। अब ये तथाकथित विज्ञानी रासायनिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु यदि रासायनिक संयोग ही जीवन के स्रोत हैं, तो फिर सारे विज्ञानी रसायनशास्त्र के बल पर अंडा जैसी कोई वस्तु निर्मित क्यों नहीं कर लेते और उसे इनक्यूबेटर में रख कर उससे चुज़ा क्यों नहीं निकाल लेते? उनका उत्तर क्या है? वे अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर एक अंडा तक नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसे विज्ञानियों को *भगवद्गीता* में *माययापहतज्ञानाः* कहा गया है अर्थात् ऐसे मूर्ख जिनके असली ज्ञान को हर लिया गया हो। ये ज्ञानी पुरुष होने का नहीं, अपितु विज्ञानी तथा दार्शनिक होने का स्वांग भरते हैं, यद्यपि उनके तथाकथित सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यावहारिक परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते।

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्  
 प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।  
 स एव तं शाकुनिकः शरेण  
 विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुलिङ्गम्—पक्षी को; विलपन्तम्—विलाप करता; आरात्—दूरी से; प्रिया-वियोग—अपनी पत्नी की क्षति के कारण; आतुरम्—अत्यन्त दुखी; अश्रु-कण्ठम्—आँखों में आँसू भर कर; सः—उसने ( बहेलिया ने ); एव—निस्सन्देह; तम्—उसको ( नर पक्षी को ); शाकुनिकः—जो गिद्ध तक को मार सके; शरेण—तीर से; विव्याध—बेध दिया; काल-प्रहितः—काल द्वारा प्रेरित होकर; विलीनः—छिपा, गुप्त।

अपनी पत्नी की क्षति के कारण कुलिङ्ग पक्षी आँखों में आँसू भर कर विलाप कर रहा था। तभी काल के आदेशों का पालन करते हुए अत्यन्त सावधानी से दूर छिपे बहेलिये ने अपना तीर छोड़ा जिसने कुलिङ्ग पक्षी के शरीर को बेध कर उसे मार डाला।

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः ।

नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥ ५७ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यूयम्—तुम सब; अपश्यन्त्यः—न देखकर; आत्म-अपायम्—अपनी मृत्यु को; अबुद्धयः—हे मूर्खों; न—नहीं; एनम्—उसको; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगी; शोचन्त्यः—शोक करती हुई; पतिम्—अपने पति के लिए; वर्ष-शतैः—सैकड़ों वर्षों तक; अपि—भी।

इस प्रकार छोटे बालक के वेष में यमराज ने सभी रानियों को बताया : तुम सब इतनी मूर्ख हो तुम शोक तो कर रही हो किन्तु तुम शोक तो कर रही हो किन्तु अपनी मृत्यु को भी नहीं देख रही हो। अल्प ज्ञान के वशीभूत होकर तुम यह नहीं जानती हो कि यदि तुम सैकड़ों वर्षों तक भी अपने मृत पति के लिए शोक करो तो भी तुम उसे जीवित नहीं कर सकती और तब तक तुम्हारा जीवन समाप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : एक बार यमराज ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा—“इस संसार में आश्चर्यमय वस्तु क्या है ?” महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया ( महाभारत वनपर्व ३१३.११६)—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।

शेषाःस्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यम् अतः परं ॥

लाखों जीव प्रतिक्षण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु मूर्ख जीव तब भी अपने को मृत्युहीन समझता है और मृत्यु की तैयारी नहीं करता। इस संसार की सबसे आश्चर्यमय वस्तु यही है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना होता है, क्योंकि वह पूर्णतया प्रकृति के वश में होता है, फिर भी हर व्यक्ति अपने को स्वतंत्र मानता है, वह जो चाहे सो कर सकता है और वह कभी मरेगा नहीं, अपितु सदा जीवित रहेगा। तथाकथित विज्ञानी विविध योजनाएँ बना रहे हैं जिससे जीव भविष्य में सदैव जीवित रहेंगे, किन्तु जब वे ऐसे वैज्ञानिक ज्ञान में लगे रहते हैं तभी यमराज उन्हें उनके तथाकथित शोधकार्य से छीन लेता है।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः ।

ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥ ५८ ॥

### शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—श्री हिरण्यकशिपु ने कहा; बाले—बालक रूप में यमराज; एवम्—इस प्रकार; प्रवदति—दार्शनिक रूप में बोल रहा था; सर्वे—समस्त; विस्मित—आश्चर्यचकित; चेतसः—हृदय वाले; ज्ञातयः—सम्बन्धीगण; मेनिरे—उन्होंने सोचा; सर्वम्—समस्त भौतिक वस्तुएँ; अनित्यम्—नाशवान्; अयथा-उत्थितम्—अस्थायी घटना से उदित।

हिरण्यकशिपु ने कहा : जब यमराज इस तरह छोटे से बालक के वेष में सुयज्ञ के मृत शरीर को घेरे हुए समस्त सम्बन्धियों को उपदेश दे रहे थे तो सभी लोग उनके दार्शनिक वचनों को सुनकर दंग थे। वे समझ सके कि प्रत्येक भौतिक वस्तु नाशवान् है, वह सदा विद्यमान नहीं रह सकती।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि भगवद्गीता (२.१८) में की गई है। अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः—शरीर तो नाशवान् है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा नित्य है। अतएव मानव समाज में ज्ञान में बढ़े-चढ़े लोगों का कर्तव्य है कि नित्य आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का अध्ययन करें और जीवन के असली उत्तरदायित्व को समझें तथा शरीर का पालन करने में ही मानव जीवन के अमूल्य समय को न गँवा दें। प्रत्येक मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि आत्मा किस तरह सुखी रह सकता है और वह सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन कहाँ प्राप्त कर सकता है। मानव प्राणी ऐसे विषयों के अध्ययन के लिए है, नाशवान् शरीर की देखरेख में व्यस्त रहने के लिए नहीं है, क्योंकि यह शरीर अवश्य बदलेगा। कोई नहीं जानता कि उसे पुनः मनुष्य-शरीर मिलेगा या नहीं इसकी कोई गारन्टी नहीं है, क्योंकि अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य को देवता से लेकर एक कुत्ते तक का शरीर प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

अहं ममाभिमानादि त्वयथोत्थमनित्यकम् ।

महदादि यथोत्थं च नित्या चापि यथोत्थिता ॥

अस्वतन्त्रैव प्रकृतिः स्वतन्त्रो नित्य एव च ।

यथार्थभूतश्च पर एक एव जनार्दनः ॥

केवल जनार्दन या भगवान् ही सदा रहते हैं, किन्तु उनकी सृष्टि, यह भौतिक जगत, नाशवान् है।

अतएव ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक शक्ति द्वारा मोहित है और यह सोचने में लीन रहता है कि “में यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है ” वह भ्रम (मोह) में रहता है। उसे अपने आपको जनार्दन का एक अंश ही सोचना चाहिए और इस जगत में, विशेष रूप से इस मनुष्य जीवन में, उसका एकमात्र प्रयास यही होना चाहिए कि वह भगवद्धाम वापस जाकर जनार्दन की संगति प्राप्त करे।

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत ।

ज्ञातयो हि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम् ॥ ५९ ॥

#### शब्दार्थ

यमः—बालक रूप में यमराज; एतत्—यह; उपाख्याय—उपदेश देकर; तत्र—वहाँ; एव—निस्सन्देह; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; ज्ञातयः—सम्बन्धियों ने; हि—निस्सन्देह; सुयज्ञस्य—राजा सुयज्ञ के; चक्रुः—सम्पन्न किया; यत्—जो हैं; साम्परायिकम्—अन्त्येष्टि संस्कार।

बालक रूप में यमराज सुयज्ञ के समस्त मूर्ख सम्बन्धियों को उपदेश देकर उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। तब राजा सुयज्ञ के सम्बन्धियों ने अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

अतः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव वा ।

क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।

स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥ ६० ॥

#### शब्दार्थ

अतः—अतएव; शोचत—शोक करो; मा—मत; यूयम्—तुम सब; परम्—अन्य; च—तथा; आत्मानम्—अपने आप; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; कः—कौन; आत्मा—अपना; कः—कौन; परः—दूसरा; वा—अथवा; अत्र—इस भौतिक जगत में; स्वीयः—अपना; पारक्यः—अन्यों के लिए; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; स्व-पर-अभिनिवेशेन—अपने तथा औरों के देहात्मबुद्धि में लीन होने से; विना—अलावा; अज्ञानेन—ज्ञान का अभाव; देहिनाम्—समस्त जीवधारियों का।

अतएव तुममें से किसी को भी शरीर-क्षति के लिए, चाहे तुम्हारा अपना शरीर हो या अन्य का हो, शोकसंतप्त नहीं होना चाहिए। यह तो केवल अज्ञान है, जिससे मनुष्य यह सोचकर शारीरिक भेदभाव बरतता है कि मैं कौन हूँ? अन्य लोग कौन हैं? मेरा क्या है? उनका क्या है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में आत्म-संरक्षण की धारणा प्रकृति का पहला नियम है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य पहले अपनी निजी सुरक्षा में रुचि लेनी चाहिए है, तब समाज, मित्रता, प्रेम, राष्ट्रीयता आदि-आदि पर विचार करना चाहिए, क्योंकि ये सब देहात्मबुद्धि एवं आत्म-ज्ञान के अभाव से ही विकसित हैं। यह अज्ञान कहलाता है। जब तब मानव समाज अंधकार तथा अज्ञान में है तब तक लोग

देहात्मबुद्धि के कारण बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करते रहेंगे। प्रह्लाद महाराज ने इसे भ्रम कहा है। भौतिकतावादी धारणा में आधुनिक सभ्यता बड़ी-बड़ी सड़कों, घरों, मिलों तथा फैक्टरियों के लिए बृहद् आयोजन करती है और सभ्यता की उन्नति के विषय में मनुष्य की यही धारणा है। लेकिन लोग यह नहीं जानते कि वे स्वयं किसी भी क्षण इस दृश्य से बाहर किये जा सकते हैं और ऐसे शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य हो सकते हैं जिन्हें विशाल घरों, महलों, सड़कों तथा स्वचालित यानों से कोई सरोकार न हो। अतएव जब अर्जुन अपने सगे रिश्तेदारों से शारीरिक सम्बन्धों के बारे में सोच रहा था तो कृष्ण ने तुरन्त ही उसे यह कहकर प्रताड़ित किया—*कृतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् अनार्यजुष्टम्*—यह देहात्मबुद्धि अनार्यों को शोभा देती है जिनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा नहीं होता। आर्य-सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़ी-चढ़ी होती है। किन्तु कोई आर्य का ठप्पा लगाकर आर्य नहीं बनता। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में गहन अंधकार में रहकर कोई अपने को आर्य होने का दावा करे तो वह अनार्य है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मवैवर्त पुराण* से निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

*क आत्मा कः पर इति देहाद्यपेक्षया*

*न हि देहादिरात्मा स्यान् न च शत्रुरुदीरितः ।*

*अतो दैहिकवृद्धौ वा क्षये वा किं प्रयोजनम् ॥*

*यस्तु देहगतो जीवः स हि नाशं न गच्छति ।*

*ततः शत्रुविवृद्धौ च स्वनाशे शोचनं कुतः ॥*

*देहादि व्यतिरिक्तौ तु जीवेशौ प्रतिजानता ।*

*अत आत्मविवृद्धिस्तु वासुदेवे रतिःस्थिरा ।*

*शत्रुनाशस्तथाज्ञाननाशो नान्यः कथञ्चन ॥*

इसका भाव यह है कि जब तक हम इस मनुष्य के शरीर में हैं, हमारा कर्तव्य है कि शरीर के भीतर के आत्मा को समझें। शरीर आत्मा नहीं है; हम शरीर से भिन्न हैं अतएव देहात्मबुद्धि के रूप में मित्रों, शत्रुओं तथा जिम्मेदारियों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी को इसके विषय में अधिक उत्सुक नहीं होना चाहिए कि शरीर शिशुता से बाल्यावस्था और बाल्यावस्था से वृद्धावस्था में और तब मृत्यु में बदल रहा है। प्रत्युत मनुष्य के शरीर के भीतर स्थित आत्मा के विषय में तथा भव-बन्धन से

आत्मा को छुड़ाने के विषय में अत्यन्त गम्भीर रहना चाहिए। शरीर के भीतर का जीव कभी विनष्ट नहीं होता; अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिये कि उसके चाहे लाख दोस्त या दुश्मन हों, न तो दोस्त सहायता कर सकते हैं न ही दुश्मन कोई हानि पहुँचा सकते हैं। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह आत्मा है (अहं ब्रह्मास्मि) और आत्मा की स्वाभाविक स्थिति शरीर में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहती है। सभी दशाओं में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के रूप में भगवान् विष्णु का भक्त होना चाहिए और उसे शारीरिक सम्बन्धों, यथा दोस्त या दुश्मनों, की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि देहात्मबुद्धि में न तो हम स्वयं और न हमारे शत्रु कभी मारे जाते हैं।

श्रीनारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।

पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; दैत्य-पतेः—असुरों के राजा का; वाक्यम्—वाणी; दितिः—दिति, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता ने; आकर्ण्य—सुनकर; स-स्नुषा—हिरण्याक्ष की पत्नी सहित; पुत्र-शोकम्—अपने पुत्र हिरण्याक्ष का महान् वियोग; क्षणात्—तुरन्त; त्यक्त्वा—छोड़कर; तत्त्वे—जीवन के असली दर्शन में; चित्तम्—हृदय को; अधारयत्—लगाया।

श्री नारद ने आगे कहा : हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता दिति ने अपनी पुत्रवधू हिरण्याक्ष की पत्नी रुषाभानु सहित हिरण्यकशिपु के उपदेशों को सुना। तब उसने अपने पुत्र की मृत्यु के शोक को भुला दिया और उसने अपने मन तथा ध्यान को जीवन का असली दर्शन समझने में लगा दिया।

तात्पर्य : जब किसी का कोई सम्बन्धी मरता है, तो वह दर्शन में अधिक रुचि लेने लगता है, किन्तु जैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाती है, वह पुनः भौतिकतावादी कार्यों में लग जाता है। यहाँ तक कि अत्यन्त भौतिकतावादी दैत्य भी कभी-कभी अपने किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर दर्शन के विषय में सोचते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति की इस मनोवृत्ति को श्मशान वैराग्य कहते हैं। जैसाकि भगवद्गीता में पुष्टि हुई है, चार प्रकार के लोग आध्यात्मिक जीवन तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। विशेष रूप से जब कोई भौतिक परिस्थितियों से अत्यन्त पीड़ित रहता है, तो वह ईश्वर में मन लगाता है। अतएव कुन्ती देवी ने कृष्ण की प्रार्थना करते हुए कहा है कि उन्हें जीवन में सुख की अपेक्षा दुख पसन्द है। भौतिक जगत में सुखी रहने वाला व्यक्ति कृष्ण या ईश्वर

को भूल जाता है, किन्तु कभी-कभी वास्तविक पवित्रात्मा दुख में रहकर भी कृष्ण का स्मरण करता है। अतएव महारानी कुन्ती ने दुख पसन्द किया, क्योंकि यह कृष्ण को स्मरण करने का सुअवसर होता है। जब कृष्ण कुन्ती देवी के पास से स्वदेश को लौट रहे थे तो कुन्ती देवी ने बड़े ही खेदपूर्वक कहा था कि वे दुख में ही अच्छी थीं, क्योंकि कृष्ण सदैव साथ रहते थे, किन्तु अब जब पाण्डव सिंहासनासीन हैं, तो कृष्ण दूर जा रहे हैं। दुख तो भक्त के लिए भगवान् को निरन्तर स्मरण करने का सुअवसर होता है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत “असुरराज हिरण्यकशिपु” नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*